तप-त्याग-शील गीताञ्जली

(तप-त्याग-शील से आत्मविशुद्धि से आत्मोपलब्धि हेतु
हो तो सम्यक् अन्यथा मिथ्या)

-आचार्य कनकनन्दी

: पुण्य-स्मरण :

श्रीमती टीना मनीष के नवीन गृह में ग्रीष्मप्रवास
व स्वाध्याय के पुण्य स्मरणार्थ

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

1. ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा के स्वाध्याय मंडल द्वारा अक्षय तृतीया के उपलक्ष्य में ...
2. पम्मी शीनम यथार्थ के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में श्रीमती दीपिका नगीनजी शाह ग. पु. कॉलोनी
3. चरित, ईशानी, धनीश परम, मान्य (श्रीमती जयप्रभा दादी, नानी)
4. श्रीमती मधु बाई श्री तेजपाल जी (दीवड़ा वाले)

ग्रन्थांङ्क-315 प्रतियाँ-500
संस्करण-प्रथम 2019 मूल्य- 151/- रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त
(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान
द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा
चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,
उदयपुर (राज.)-313001/मो. 082337-34502
(2) डॉ. नारायणलाल कछारा
सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान
55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001
फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622
E-mail:nlkachhara@yahoo.com

अलौकिक वृत्तिधारी कनक गुरु को अन्य जन क्यों न समझ पाते! ?

(चालः- मेरी आवाज सुनो....) - श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

कनक के भाव समझो... अनुभव विशेष सुनो...लक्ष्य महान् देखो...(ध्रुव)
अन्य जन जो न समझ पाते व्यवहार-काम/(अलौकिक वृत्ति)...
वीतरागी-निराडम्बर व निस्पृह वृत्ति/(भाव)...
सारी दुनिया से निराले हैं ये सन्तप्रवर...कनक के...(1)

आत्म साधनारत यतिवर मुक्ति है लक्ष्य परम...
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि व प्रलोभन रिक्त...
आकर्षण-विकर्षण-ईर्ष्या-तृष्णा-निन्दा रिक्त...कनक के...(2)...

विज्ञापन-होर्डिंग-पण्डाल/(डोम) पत्रिका आदि रहित...
याचना-बोली-चन्दा-चिट्ठा व रूपयों से दूर...
सहज बाह्य प्रभावना द्वन्द्व-फन्द रिक्त...कनक के...(3)...

मन्त्र-यन्त्र-ताबीज-दवा-झाड़ाफूकी न करे...
तथापि इनकी भक्ति-सेवा-दान से रोग/(क्लेश) मिटे...
संघ में गाड़ी-धन-चौका व नौकर न रखे...कनक के...(4)...

/(भोला भाला सादा जीवन भेदभाव से परे...)
व्यापारी सम लाभ न ले कृषक सम उत्पादन करे...
वैश्विक उदार सहिष्णु गुणग्राही भाव धरे...
मन्दिर-मठ निर्माण नहीं, भौतिक विकल्प/(लोक संग्रह) परे...कनक के...(5)

इन कारणों से न समझ पाते सदगुरु को लोग...
समझने पर बनते भक्त-शिष्य करते सहयोग...
'सुविज्ञ' जन दान-सेवा से धन्य बनाते जीवन...कनक के...(6)...

नन्दौड़, दि. 17.11.2018

सरल-सहज-निस्पृह आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव (जैसा की मैंने आ.श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव को 2015 व 2018 के चातुर्मास में अनुभव किया)

(चालः- छोटी-छोटी गैया ....) - सौ. नेहा मनीष शाह

कनक गुरु आप हैं हमारे प्रभुवर, आपकी सेवा करे (हम) जीवन भर।
आपकी भक्ति में बीते हरपल, आप सम बन जाए हम भी सरल।। (ध्रुव)
आपकी भक्ति में है जादुई शक्ति, जिसने भी भक्ति की सुख-शान्ति बढ़ी।
रोग-शोक संकट उसके टले, घर में धन-धान्य समृद्धि बढ़े।।
प्रशंसा-प्रोत्साहन आप बहुत करते, जिससे हमारा उत्साह बढ़े।
कोई भी कार्य हमें बोझ न लगे, आपका चौमासा (हमें) फूल सा लगे।। (1)

सरल स्वभावी आप गुरुवर, आपके नहीं है कोई आडम्बर।
दिखावा-ढोंग आप नहीं करते, किसी पर दबाव नहीं डालते।।
आपसे ही जाना हमने धर्म का मर्म, धन बिना भी होता पुण्य कर्म।
बिना बोली माईक-मंच-प्रदर्शन, धर्म से होता है निजदर्शन।। (2)

मुझ में नहीं कुछ भी ज्ञान, कैसे गाऊँ आपका गुणगान ?
आप हो गुरुवर गुणों की खान, आपने बढ़ाई जिन धर्म की शान।।
आपके भक्त-शिष्य भी हैं महान्, हमको देते सहयोग सम्मान।
आपने ही बढ़ाया हमारा ये मान, 'नेहा' करे आपके नेह को प्रणाम।। (3)

'प्रवीणचन्द्र' पापाजी की भावना थी, 18-19-20 का चौमासा हो।
उनकी भावना को नवकोटि से, शाह परिवार पूर्ण करे।।
बीस में दीक्षा लेने के (नन्दादेवी) मम्मी के भाव, मम्मीजी के कारण (हमें है साहस।)
हाथ जोड़ विनम्र प्रणाम करूँ, उन्नीस-बीस का चौमासा हमें दे दो।।(4)

नन्दौड़ दि. 21.11.2018 रात्रि 08:00

आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव द्वारा आत्मिक(आन्तरिक) प्रभावना

(मेरा लक्ष्य-साधना एवं प्राप्य)

(चाल:- मेरे देश की धरती....) - ब्रा.ब्र. रोहित जैन

इस विश्व का कण-कण...हुआ है पावन...तेरे चरणों की रज सेऽऽऽ(ध्रु.)
कनक गुरु का परम लक्ष्य है...स्व-आत्मा की उपलब्धि...2
सत्य-समता-शान्ति द्वारा...आत्म द्रव्य की प्राप्ति...2
आगम व अनुभव ज्ञान से प्रज्ञा आपकी बढ़ रही,
अतः देश-विदेश में क्रान्ति तीव्रता से है हो रही।। (1) (इस विश्व...)

सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि से...वे रहते सदा निर्लिप्त...2
संकल्प-विकल्प-संक्लेश से...वे रहते सदा विरक्त...2
भक्त-शिष्य गण समझ रहे गुरु के इन गुणों को,
अपने पूर्वाग्रहों को त्यजकर...क्षमा याचना कर रहे।। (2)(इस विश्व...)

टैण्ट-पाण्डाल-होर्डिंग...भीड़-भाड़ (कदापि) न चाहते हैं...2
ढोंग-पाखण्ड-आडम्बर...दिखावा को त्यागे हैं...2
शोध-बोध वैज्ञानिक ज्ञान में उपयोग वे लगा रहे,
उदार-सहिष्णु-निस्पृह व...एकान्त गुण को बढ़ा रहे।। (3)(इस विश्व...)

समय-शक्ति-श्रम का...करते सदा सदुपयोग...2
कलह-विसंवाद-पक्षपात...गुरुवर को न भाता...2
पावन-पवित्र भावों के कारण संकीर्णता इनसे डरती है,
विमल गुण पाने हेतु गुरु...स्वात्म ध्यान करते हैं।। (4) (इस विश्व...)

स्वाध्याय परम तप है...जाना है मैंने गुरुदेव से...2
उक्त गुण मैं भी पाऊँ...आशीष दो गुरुवर मुझे...2
अनन्त संसार नाश हेतु मार्गदर्शक हैं गुरु,
कृत्यकृत्य स्वरूप 'रोहित' बन जाएँ...ऐसा बोध दो गुरु।। (5) (इस विश्व...)

नन्दौड़ दि 20.11.2018 रात्रि 08:40

धन्यकुमार गीत

(धन्य कुमार का जीव पूर्व भव में बाल्य अवस्था में घटित घटना!)

(चाल:- यशोमति मैया से पूछे नन्दलाला....) - श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

माँ गई जल भरने...रूको थोड़ा स्वामी...
माँ आए बिना तुम्हें...छोडूंगा नहीं...2...(स्थायी)...
आहार का किया निर्णय...धन्यकुमार के घर...
नहीं धन व धान्य...घर में दरिद्री...
चावल की खीर बनाई...हो...हो...हो...2 शुद्ध भाव स्वामी...माँ...(1)...

बालक को भूख लगी...माँ को खीर मांगे...
माँ कहे थोड़ा रूको...जल लेके आई...
खीर खाना नहीं...हो...हो...हो 2...आहार के पूर्व...माँ...(2)...

मौन धारण कर मुनि...आहार को चले...
रूको रूको स्वामी कहकर...बालक आगे आवे...
चरण पकड़कर गुरु के...हो...हो...हो...2 शीघ्र बोला बाल...माँ...(3)...

माता जल लाते हुए...दिया भक्ति से आहार...
बालक नाचे आनन्द से...भरे पुण्य भण्डार...
कुमार की ऐसी भक्ति...हो...हो...हो...2...भावे 'सुविज्ञ' जन...माँ...(4)...

नन्दौड, दि. 20.11.2018, रात्रि 7.20

(यह कविता ''भक्ति संग्रह'' में लिखित मराठी कविता का रूपान्तर कर सृजित हुई।)

जय हो कनकनन्दी देवा

(चाल:- 1. क्या मिलिए.... 2. आत्मशक्ति....) अक्षय पाटनी, औरंगाबाद कक्षा-VII

जय हो कनकनन्दी देवा...जय हो कनकनन्दी देवा...
भी ठेवतो माझा माथा...तुमच्या चरणात...
तुम्ही द्या मला आशीर्वाद...(ध्रुव)

तुमच्या ज्ञानाला भी करतो नतमस्तक...
तुमच्या ध्यानाला ही भी करतो नतमस्तक...।। (1) जय हो...

तुमच्या दर्शनाने मन नाही भरत...
तुमची प्रशंसा करूनी मन नाही भरत...।। (2) जय हो...

तुम्ही आहे आध्यात्मिक गुणाचे धारी...
वैज्ञानिक व वात्सल्य चे पण धारी...।। (3) जय हो...

माझे गुरुवर वाटतात महावीर सारखे...
दिव्य वाणी ऐकुन भेटतात प्रश्नांचे उत्तर...।। (4) जय हो...

तुमच्या दर्शनाने मला सुख भेटले...
माझे जीवन पुष्पा सारखे उभरून आले...।। (5) जय हो...

नन्दौड़ 13.11.2018 प्रातः 07:45

आध्यात्मिक गुण के सागर कनकनन्दी गुरुवर

(चालः- 1 मिलो ना तुम तो...(वैज्ञानिक आ.) अक्षय पाटनी, औरंगाबाद कक्षा-VII

कनकनन्दी गुरुवर... आध्यात्मिक गुण के सागर...तुमसा ना कोई और है...(ध्रुव)

आप हो वैज्ञानिक गुरुवर...आध्यात्मिक गुण के धारी...
आप में दिखता है मुझे...सरस्वती का वास...ऽऽऽ
(तुमसा ना कोई और है...(1) कनक...)...

आप मुझे बनालो शिष्य...मैं मानता हूँ आपको गुरुवर...
'अक्षय' रहे आपके चरणों में...ज्ञान पाये आपसे गुरुवर...
(तुमसा न कोई और है...(2) कनकनन्दी...)...

नन्दौड़ दि. 13.11.2018 रात्रि 08:13

निर्ग्रंथ-श्रमण योग्य करणीय-अकरणीय

(चालः- तुम दिल की....) - आ. कनकनन्दी

मोक्ष-लक्ष्य को साधने वाले, राग द्वेष मोह त्यागने वाले।
ख्याति पूजा लाभ त्यागने वाले, समता भाव में रहने वाले।।
इसी हेतु ही ध्यान करने वाले, ध्यान हेतु ज्ञान करने वाले।
स्वाध्याय-मनन करने वाले, निर्ग्रंथ-श्रमण आध्यात्म वाले।। (1)

क्रोध मान माया त्यागने वाले, ईर्ष्या द्वेष घृणा त्यागने वाले।
कलह-निन्दा को त्यागने वाले, लौकिक कार्यों को त्यागने वाले।।
धन-जन-मान से निस्पृह वाले, आर्त्त रौद्र ध्यान त्यागने वाले।
आत्म-निर्माण करने वाले, भौतिक निर्माण रहित वाले।। (2)

आजीविका हेतु न करने वाले यंत्र-मंत्र-तंत्र न करने वाले।
इसी हेतु प्रवचन न करने वाले, इसी हेतु प्रभावना न करने वाले।।
असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प, नौकरी विवाह उद्योग गृहस्थ काम।
ज्योतिष वास्तुकला गृहनिर्माण, नवकोटि से त्याग सांसारिक काम।। (3)

संकीर्ण पंथ-मत-जाति से परे, राष्ट्र-भाषा-रूढ़ि से परे।
दबाव प्रलोभन वर्चस्व परे, याचना चंदा व बोली से परे।।
आडम्बर दिखावा (सह) प्रभावना परे, निस्पृह समता शुचिता पूरे।
आत्मविशुद्धि पूर्ण प्रभावना पूरे, स्व-पर-विश्व कल्याण पूरे।। (4)

मंच-माईक व पण्डाल-होर्डिंग, निमंत्रण पत्रिका-कार्ड विज्ञापन।
हाथी-घोड़ा बाजा की स्पर्द्धा रहित, लंद-फंद व द्वन्द्व रहित।।
मैत्री-प्रमोद-करुणा-माध्यस्थ, उदार अनेकांत भाव सहित।
उपगूहन-स्थितिकरण-वात्सल्य सह, आत्म प्रभावना लौकिक कामना (रिक्त।।(4)

आत्मा को परमात्मा बनाने वाले इसी हेतु (ही) हर कार्य करने वाले।
तरण तारण ऐसे गुरु हमारे, 'कनक' ऐसे साधुत्व चाहने वाले।। (5)

जैन श्रमण का त्याग होता है सांसारिक कुटुम्ब

(चाल:- तुम दिल की धड़कन...., आत्मशक्ति से....) - आचार्य कनकनन्दी

माता पिता व भाई-बंधु...होते है सांसारिक कुटुम्बीजन...
स्व-आत्मा ही निश्चय से...होता है आध्यात्मिक जन...(स्थायी)
भले शरीर के माता-पितादि...होते हैं व्यवहार से...
आत्मा के वे न होते माता-पिता...आत्मा तो है अनादि से...
शरीर के तो हो गये माता...पिता अनादि से अनंत...
अनादि की इसी परंपरा को...अभी तो करना है अंत...(1)...

सचित्त-अचित्त-मिश्र परिग्रह...से भी निवृत्त होते हैं श्रमण...
श्रमण बनकर पुनः इसी में...जो प्रवृत होता वह भ्रष्ट श्रमण...
नवकोटि से जो होता त्याग...वह ही होता यथार्थ त्याग...
त्यागे हुए विषयों में ममत्व करना...नहीं होता है यथार्थ त्याग...(2)...

इसीलिये पूर्व आचार्यों ने...स्व-रचित ग्रंथों में न किया वर्णन...
माता-पितादि के नाम नहीं है...गुरु-शिष्यों का किया वर्णन...
'कनकनन्दी' भी इसी परंपरा को...कर रहा है सदा निर्वहण...
आत्मोपलब्धि निमित्त ही...हो रहा है सदा प्रयत्नवान्...(3)

सन्दर्भ :-

1. कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादि ममत्वं-करोति तदा तपोधन एव न भवति। (प्र.सार टीका)

जब किसी तरह से तप ग्रहण करते हुए अपने संबंधी आदि से ममता भाव करे, तब कोई तपस्वी ही नहीं हो सकता। कहा भी है-

2. जो सकलणयरज्जं पुव्वं चइऊण कुणई य ममत्तिं।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो।। (प्र. सार क्षेपक)

जो पहले सर्व नगर व राज्य छोड़ के फिर ममता करे, वह मात्र भेषधारी है, संयम की अपेक्षा से रहित है अर्थात् संयमी नहीं है।

आत्मा ही मूल व समता ही मूलगुण

(चाल : तुम दिल की धड़कन...., सायोनारा....) - आ. कनकनन्दी

आत्म स्वभाव ही मूलगुण है, जो समता रूप होता है।
अट्ठावीस (28) मूलगुण है इसके, जो साधन रूप होते हैं।। (स्थायी)
अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि के, मूल होता है आत्म तत्त्व।
इनकी अभिव्यक्ति होती समता से, अतएव समता है मूलगुण।
समता की साधना हेतु ही होते हैं, अट्ठावीस भी मूलगुण।
समता के अभाव में उपकारी न होते ये मूलगुण।। (1)

राग द्वेष मोह व संक्लेश युक्त, ख्याति पूजा लाभ के लिए।
बाह्य कठोर-तप-त्याग से भी, मोक्ष न मिले समता बिना।
यथा द्वीपायन मुनि ने क्रोध के कारण जलाये द्वारकापुरी।
अनेक मनुष्य व तिर्यंच मरे स्वयं की दुर्गति हुई भारी।। (2)

आत्म परिणाम हिंसन होने से, होती है निश्चय से हिंसा।
पंद्रह प्रकार प्रमाद से, होती है निश्चय से हिंसा।
चार कषाय-चार-विकथा, तथाहि पंचेन्द्रियों के वश में होना।
निद्रा तथा प्रणय मिलकर, होते है पंद्रह प्रमाद।। (3)

इसी से युक्त जीव ही, निश्चय से होता है हिंसक व चोर।
मिथ्यावादी व कुशील परिग्रही, बताया जिनागम में सार।
अट्ठावीस मूलगुण पूर्णतः, हर समय न पालन होते।
यथा पाँचों समिति, सप्त विशेष, गुण न एक साथ होते।। (4)

अट्ठावीस मूलगुणों को बाहुबली, मुनि ने न पालन किया।
तथापि समता व ध्यान द्वारा, कर्म नष्टकर मोक्ष को पाया।
ऋद्धिधारी मुनि भी अट्ठावीस, मूलगुण न करते पालन।
अरिहंत सिद्ध भगवान् भी, न पालते (28) मूलगुण।। (5)

समता ही है परम चारित्र, यथायोग्य (पंच) परमेष्ठी में होते है।
समता में जब स्थिर न हो पाते, (साधु) छेदोपस्थापन
(अट्ठावीस मूलगुण) पालते हैं।)....
समता ही है आत्मस्वभाव, अतएव मूलगुण है समता।
इसकी साधना व्यवहार, 'कनक' का लक्ष्य है समता।। (6)

सन्दर्भ :-

आत्म-परिणाम-हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि-केवलमुदाहृतं शिष्य बोधाय।। (42) पु.उ.

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है, असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोध करने के लिए कहे गये हैं।

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठा वणियं पुण भयवं उसहो व वीरो य।।(535)

बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु भगवान् वृषभदेव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं।

आदीय दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्प ण जाणंति।। (537)

आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य कठिनता से शुद्ध होने से तथा अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में दुःख से उनका पालन होने से वे पूर्व के शिष्य और अंतिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य व अयोग्य को नहीं जानते हैं।

निश्चयेन मूलमात्मा तस्य केवलाज्ञानाद्यनन्तगुणामूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति। तेन कारणेन तदेव सामायिकं मूलगुणव्यक्ति कारणत्वात्निश्चयमूलगुणो भवति। यदापुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन गह्णति न च सर्वथा त्याग करोति, तथायं जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरम छेदोपस्थापनं चारित्रं ग्रह्णाति।

निश्चयनय से मूल नाम आत्मा का है। उस आत्मा के केवलज्ञानादि अनंतगुण

मूलगुण हैं। ये सब मूलगुण उस समय प्रगट होते हैं जब भेद-रहित समाधि रूप परम सामायिक निश्चय एक व्रत के द्वारा (जो मोक्ष का बीज है) मोक्ष प्राप्त हो जाता है इसी कारण से वही सामायिक आत्मा के केवलज्ञानादि मूलगुणों को प्रगट करने के कारण होने से निश्चय मूलगुण है। जब यह जीव अभेद रूप समाधि में सामायिक चारित्र में ठहरने को समर्थ नहीं होता है तब भेद रूप चारित्र को ग्रहण करता है चारित्र का सर्वथा त्याग नहीं करता, जैसे कोई भी सुवर्ण का चाहने वाला पुरुष सुवर्ण को न पाता हुआ उसकी कुंडल आदि अवस्था विशेष को ही ग्रहण कर लेता है सर्वथा सुवर्ण का त्याग नहीं करता हैं तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नाम की परम समाधि अर्थात् अभेद सामायिक चारित्र का लाभ न होने पर छेदोपस्थापना नाम भेदरूप चारित्र को ग्रहण करता है। (प्रवचनसार की 208, 209 की टीका)

मैं प्रसिद्धि त्याग से सिद्धि हेतु साधना करूँ

(चालः- मन रे! तू काहे न धीर धरे...., सायोनारा....) **- आचार्य कनकनन्दी**

जिया रे! तू स्व-लक्ष्य साधा करऽऽ
तेरा स्व-लक्ष्य है स्व-उपलब्धि...अन्य सभी त्याग करऽऽ...(ध्रुव)
स्वात्मोपलब्धि ही सिद्धि होती...प्रसिद्धि की चाह है बाधाकरऽऽ
संकल्प-विकल्प व संक्लेश जनक...होती है प्रसिद्धि की चाहऽऽ
इससे होता लक्ष्य अति दूरऽऽ...जिया...(1)

चक्रवर्ती की भी प्रसिद्धि न रहे...होने पर भी वज्र लिखितऽऽ
एक चक्री का नाम अन्य चक्री मिटाये...स्व-उपलब्धि है ध्रुव धामऽऽ
टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी तुमऽऽ...जिया...(2)....

प्रसिद्धि हेतु धन-जन चाहिए...मंच-माईक-पंडाल-भोजनऽऽ
पत्रिका-होर्डिंग-माला-गाजा-बाजा...शाल-प्रशस्ति व मान-सम्मानऽऽ
याचना-दबाव व प्रलोभन/(भय)ऽऽ...जिया...(3)

कौन आया/(गया) व कौन न आया...कौन संतोष कौन नाराजऽऽ
मानो-मनाओ-खाओ-खिलाओ...बंदरबाट सम होता कामऽऽ
अन्यथा उपार्जित धन समऽऽ...जिया...(4)....

धन-मान हेतु प्रयोग जो ज्ञान/(धर्म)...वह अति निकृष्ट कामऽऽ
माँ को वेश्या बना के धनार्जन सम...होता इह-परलोक पतनऽऽ
नवकोटि से करो प्रसिद्धि विसर्जनऽऽ जिया...(5)....

छाया सम है प्रसिद्धि जानो...मृगमरीचिका या शुकर विष्टाऽऽ
अहंकार की अभिव्यक्ति मानो...निदान से मिथ्यात्व जानोऽऽ
इच्छानिरोध तप से भिन्नऽऽ...जिया...(6)....

समता से तू श्रमण बनो...निस्पृह-निराडम्बर-निरभिमानऽऽ
ध्यान-अध्ययन व मौन-ज्ञान...आत्मशुद्धि से पाओ निर्वाणऽऽ
'कनक' करो आत्म रमणऽऽ...जिया...(7)....

आत्म-संबोधन हेतु
अयोग्य जनों के कारण भी स्व-गुणों को बढाऊँ
(रागी-मोही के कारण मैं स्व-आध्यात्मिक गुण न त्यागूँ)

(चाल:- आत्मशक्ति....) - आचार्य कनकनन्दी

तेरी आध्यात्मिकता व तेरी वीतरागता को कोई जाने/(माने) या न जाने /(माने)।
तू तो इसे ही बढ़ाता जाना, अज्ञानी मोही क्या जाने/(माने)।।
अनादिकालीन मोह-अज्ञान से आक्रांत/(ग्रसित) जो जीव होते।
वे तुझे क्या जान पायेंगे जो स्वयं को भी नहीं जानते।। (1)

जन्मान्ध यदि सूर्य को न देख पाते सूर्य न होता है दोषी।
अज्ञानी-मोही यदि तुझे न जान पाते इसमें तुम न हो दोषी।।
अन्य के दोषों से अप्रभावी हो स्व-गुणों को तू बढ़ाओ।
उनसे भी न अयोग्य भाव-व्यवहार उनसे भी शिक्षा ले लो।। (2)

उनकी अयोग्यता से स्व-गुण, न छोड़ो किन्तु बढ़ाते चलो।
स्व-उपलब्धियों का गौरव करो, मोह-मदादि भी न करो।।
अयोग्य भी अन्य को स्व-समान बनाने हेतु नवकोटि से काम करते।
सूर्य यथा अंधों के कारण तम न बने तथाहि तू काम करो।। (3)

हर महापुरुष दूसरों के दोषों से सीख लेकर आगे बढ़ते।
दूसरों को कष्ट न देते किन्तु सभी का ही मंगल चाहते।।
डॉक्टर वैद्य सम तू काम करो दोषी बिना बने उपकार करो।
स्व-पर दोष-गुण से शिक्षा लेकर, 'कनक' सदा आगे बढ़ो।। (4)

अज्ञानी-मोही तो सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि से महान् मानते।
ख्याति-पूजा-लाभ-भोग-वर्चस्व आदि से स्वयं को महान् मानते।।
भले वे किसी भी क्षेत्र में होते धर्म-राजनीति-व्यापार आदि में।
परिवार-समाज-राष्ट्र-शिक्षा-न्याय-नौकरी आदि में।। (5)

इनसे विपरीत लक्ष्य तुम्हारा अतएव करूँ इनसे विपरीत काम।
'मुनिनां भवति अलौकिक वृत्ति' से तुम्हें करना है आत्म कल्याण।।
धर्म प्रभावना हेतु भी तू न त्याग स्व-आध्यात्मिकता (व) वीतरागता।
समता-शांति व आत्मविशुद्धि निस्पृह-निराडम्बर-सरल-सहजता।। (6)

जिससे स्व-गुण में बाधा पहुँचे ऐसे बाह्य समस्त काम तू त्याग।
विधान-पंचकल्याणक-प्रवचन-शिविर-मंदिर निर्माणादि त्याग।
स्व-उपलब्धि ही तेरी परम उपलब्धि जो विश्व में सर्वोच्चतम है।
अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय अक्षय-अव्याबाध गुणमय है।। (7)

आत्मध्यान से आनंद आता

(चाल : आत्मशक्ति....) - आचार्य कनकनन्दी

बड़ा सुख पाता आनंद आता...जब मैं आत्मध्यान करता।
संकल्प घटता-विकल्प नशता...संक्लेश भाव भी दूर होता।।
राग-द्वेष घटते मद-मोह छटते...वैर-विरोध भी नहीं होते
ईर्ष्या घृणा छटती कामना जाती...नवकोटि से न परनिन्दा होती।।
विभाव घटते स्वभाव प्रगटे...सुज्ञान सहित सुख बढ़ते।
बाह्य दृष्टि घटती अंतःदृष्टि बढ़ती...बाह्य प्रवृत्ति जाती अंतरंग बढ़ती।। (1)

आकर्षण घटता विकर्षण छूटता...अस्थिर भाव भी नाश होता।
आत्मशक्ति बढ़ती विकृति घटती...शांति समता की वृद्धि होती।।

आकुलता घटती-व्याकुलता छटती...निराकुलता की वृद्धि होती।
कामना छटती भावना बढ़ती... आध्यात्मिक विशुद्धि वृद्धि होती।। (2)
पर-परिणति जाति आत्म-परिणति होती...आध्यात्मिक गरिमा की वृद्धि होती।
आत्मा ही भाता परभाव न सुहाता...स्व शुद्धात्मा का अनुभव होता।।
अहंकार नशता 'सोऽहं' भाव होता...'सोऽहं' से परे अहं भाव होता।
अतएव 'कनक' स्व का ध्यान करता...सिद्ध स्वरूप का मैं सहारा लेता।।(3)

हे आत्मन्! तू ही मुग्ध (अज्ञानी) है और तू ही ज्ञानी है, सुख की अभिलाषा करने वाला और दुःख का द्वेष करने वाला भी तू ही है और सुख-दुख को देने वाला तथा भोगने वाला भी तू ही है, तो फिर तेरे स्वहित की प्राप्ति निमित्त प्रयास क्यों नहीं करता है ? (आध्यात्मकल्पद्रुम)

लोकरंजन और आत्मरञ्जन

कस्ते निरञ्जन! चिरं जनरञ्जनेन,....धीमन्! गुणोऽस्ति परमार्थदृशेति पश्य।
तं रञ्जयाशु विशदैश्चरितैभवाब्धौ,....यस्तवां परन्तमबलं परिपातुमीष्टे।। (4)।।

हे निर्लेप! हे बुद्धिमान! लाखों समय जनरंजन करने से तुझे कौन-सा गुण प्राप्त होगा उसको परमार्थदृष्टि से तू देख, और विशुद्ध आचरण द्वारा तू तो उसको (धर्म को) रंजन कर कि जो निर्बल और संसार समुद्र में पड़ता हुआ तेरा आत्मा का रक्षण करने को शक्तिमान हो सके।

मदत्याग और शुद्ध वासना

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं,दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान्।
इत्याद्यहङ्कृतिवशात्परितोषमेषि,नो वेत्सि किं परभवे लघुतां भवित्रीम्।। (5)।।

मैं विद्वान् हूँ, मैं सर्व लब्धिवाला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं दानेश्वरी हूँ, मैं अद्भुत गुणवाला हूँ, मैं बड़ा हूँ ऐसे ऐसे अहंकारों के वशीभूत होकर तू संतोष धारण करता है; परन्तु परभव में होने वाली लघुता का तू क्यों विचार नहीं करता है ?

तुझको प्राप्त हुआ संयोग

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि,....धर्मस्य, तं प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम्।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,किंचित्त्वया हि नहि सेत्स्यति भोत्स्यते वा।। (6)।।

तू धर्म का स्वरूप, फल, साधन और बाधक को जानता है

और तू स्वतंत्रतापूर्वक धर्म करने को समर्थ है। इसलिये तू अभी से (इस भव में ही) उसको करने का प्रयास कर; क्योंकि भविष्य भव में तू किसी भी प्रकार की सिद्धि को प्राप्त न कर सकेगा अथवा न जान सकेगा।

धर्म करने की आवश्यकता, उससे होने वाला दुःखक्षय

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्तैरनन्तैस्तवा...
याताः संप्रति जीव हे प्रसहतो दुःखान्यनन्तैस्तवा-
यातःस्रपंति जीव हे प्रसहतो दुःखान्यनन्तान्ययम्।
स्वल्पाहः पुनरेष दुर्लभतमश्चास्मिन् यतस्वार्हतो,
धर्मं कुर्तुमिमं विना ही नहि ते दुःखक्षयः कर्हिचित्।।7।।

हे चेतन! अनेक प्रकार से अनेक दुःख सहन करते करते अनन्तानंत पुद्गलपरावर्तन करने के पश्चात् अब तुझे यह धर्म करने का अवसर प्राप्त हुआ है, यह भी अल्पकाल के लिये है, और बार बार ऐसा अवसर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, अतः धर्म करने का प्रयास कर। इसके बिना तेरे दुःखों का कभी भी अन्त नहीं हो सकेगा।

अधिकारी होने का यत्न कर

गुणस्तुतीर्वाञ्छसि निर्गुणोऽपि, सुखप्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम्।
अष्टाङ्गयोगं च विनापि सिद्धि- र्वातूलता कापि नवा तवात्मन्।।8।।

तेरे में गुण नहीं है फिर भी तू गुण की प्रशंसा होना सुनना चाहता है, बिना पुण्य के सुख तथा ख्याति की अभिलाषा रखता है, इसी प्रकार अष्टांगयोग बिना सिद्धियों की वाञ्छा करता है। तेरा बकवादपन तो कुछ विचित्र ही जान पड़ता है।

पुण्याभावे पराभव और पुण्य साधन का करणीयपन,

पदे पदे जीव! पराभिभूतीः, पश्यन् किमीर्ष्यस्यधमः परेभ्यः।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न ? तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव? ।।9।।

हे जीव! दूसरों द्वारा किये हुए अपने पराभव को देखकर तू अधमपन से दूसरों से ईर्ष्या क्यों करता है ? तेरे खुद के आत्मा को निष्पुण्यक क्यों नहीं समझता है? अथवा पुण्य क्यों नहीं करता है?

पाप से दुःख और उसका त्यागपन

किमर्दयन्निर्दयमङ्गिनो लघून, विचेष्टसे कर्मसु ही प्रमादतः।

यदेकशोऽप्यन्यकृतार्दनः, सह त्यन्तशोप्यङ्ग्ययमर्दनं भवे।। (10)।।

तू प्रमाद से छोटे छोटे जीवों को दुःख देने वाले (कार्यों) कर्मों में निर्दयतापूर्वक क्यों प्रवृत्ति करता है ? प्राणी दूसरों को जो कष्ट एक बार पहुँचाता है वह ही कष्ट भवान्तर में वह अनन्त बार भोगता है।

प्राणी पीडा व इनके निवारण करने की आवश्यकता

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जन्तूनि भक्षयेत्।

तता मृत्युमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेऽङ्गिनः।। (11)।।

जिस प्रकार सर्प के मुँह में होते हुए भी मेंढक (देडको) अन्य जन्तुओं का भक्षण करता है इसी प्रकार हे आत्मन्! तू मृत्यु के मुँह में होने पर भी प्राणियों को क्यों कष्ट पहुँचाता है ?

माना हुआ सुख-उसका परिणाम

आत्मानमल्पैरिह वञ्चयित्वा, प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्यैः।।

भवाधमे किं जन! सागराणि, सोढासि ही नारकदुःखराशीन्।। (12)।।

हे मनुष्य! थोड़े और वह भी माने हुए शरीर तथा मन के सुख निमित्त इस भव में तेरी आत्मा को वञ्चित रखकर अधम भवों में सागरोपम तक नारकी के दुःख सहन करेगा।

प्रमाद से दुःख शास्त्रगत दृष्टान्त

उरभ्रकाकिण्युदबिन्दुकाम्र वणिक्, त्रयीशाकटभिक्षुकाद्यैः।

निदर्शनैर्हारितमर्त्यजन्मा दुःखी प्रमादैर्बहु शोचितासि।। (13)।।

प्रमाद करके हे जीव! तू मनुष्य भव को निरर्थक बना देता है और इसलिये दुःखी होकर बकरा, काकिणी, जलबिन्दु, केरी, तीनबनिये, गाडीवान भीखारी आदि के दृष्टान्तों के समान तू बहुत दुःख पायेगा।

प्रत्येक इन्द्रिय से दुःख पर दृष्टान्त

पतङ्गभृङ्गैणखगाहिमीन-द्विपद्विपारिप्रमुखाःप्रमादैः।

शोच्या यथा स्युर्मृतिबन्ध-दुःखै श्चिरायभावी त्वमपीति जन्तो!।। (14)।।

पतंग, भ्रमर, हिरण, पक्षी, सर्प, मच्छी, हाथी, सिंह आदि प्रमाद से एक एक इन्द्रिय के विषय रूप प्रमाद के वश हो जाने से जिस प्रकार मरण, बंधन आदि दुःखों का कष्ट भोगते हैं, इसी प्रकार हे जीव! तू भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनन्त काल तक दुःख भोगेगा।

प्रमाद का त्याज्यपन

पुरापि पापैःपतितोऽसि दुःख-राशौ पुनर्मूढ! करोषि तानि।

मज्जन्महापङ्किलवारिपूरे, शिला निजे मूर्ध्नि गले च धत्से।। (15)।।

हे मूढ! तू पहले भी पापों के कारण दुःखों की राशि में गिरा है और फिर भी उन्हीं का आचरण करता है। अत्यन्त कीचड़वाले भरपूर पानी में गिरते वास्तव में तू तो तेरे गले और मस्तक पर बड़ा भारी पत्थर बांधता है ?

सुखप्राप्ति और दुःख-नाश का उपाय

पुनः पुनर्जीव तवोपदिश्यते, विभेषि दुःखात्सुखमीहसे चेत्।

कुरुष्व तत्किञ्चन येन वाञ्छितं, भवेतवास्तेऽवसरोऽयमेव यत्।। (16)

हे भाई ! हम तो तुझे बारम्बार यही कहते हैं कि यदि तू दुःखों का भय तथा सुखों की अभिलाषा रखता हो तो ऐसा कार्य कर कि जिससे तुझे वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति हो सके, क्योंकि इस समय तुझे सुअवसर प्राप्त हो गया है (यह तेरा समय है)।

सुख प्राप्ति का उपाय- धर्मसर्वस्व

धनाङ्गसौख्यस्वजनानसूनपि, त्यज त्यजैकं न च धर्ममार्हतम्।

भवन्ति धर्माद्धि भवे भवेऽर्थिता-न्यमून्यमीभिः पुनरेष दुर्लभः।।(17)।।

पैसा, शरीर, सुख, सगे सम्बन्धी और अन्त में प्राण भी छोड़ दे, परन्तु एक वीतराग अर्हत् परमात्मा के बताये हुये धर्म को कदापि न छोड़; धर्म से भवोभव में ये पदार्थ, (पैसा, सुख आदि) प्राप्त होंगे, परन्तु इनसे (पैसों आदि से) वह (धर्म) मिलना दुर्लभ है।

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ. सं.
(1)	अलौकिक वृत्तिधारी कनक गुरु को अन्य जन क्यों नहीं समझ पाते! ?	2
(2)	सरल-सहज-निस्पृह आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव	3
(3)	आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव द्वारा आत्मिक (आन्तरिक) प्रभावना	4
(4)	धन्यकुमार गीत	5
(5)	जय हो कनकनन्दी देवा	5
(6)	आध्यात्मिक गुण के सागर कनकनन्दी गुरुवर	6
(7)	निर्ग्रंथ श्रमण योग्य करणीय-अकरणीय	7
(8)	जैन श्रमण का त्याग होता है सांसारिक कुटुम्ब	8
(9)	आत्मा ही मूल व समता ही मूलगुण	9
(10)	मैं प्रसिद्धि त्याग से सिद्धि हेतु साधना करूँ	11
(11)	आत्म सम्बोधन हेतु	12
(12)	आत्मध्यान से आनन्द आता	13

तप-त्याग-शील गीताञ्जली

(1)	विमल-अरिहन्त भगवान् की स्तुति	20
(2)	''वन्दे तद्गुणलब्ध्ये'' हेतु ही पूजा-प्रार्थनादि करूँ	21
(3)	आत्मा के स्वभाव धर्म तो आत्मा के विभाव अधर्म	43
(4)	सत्यश्रद्धानी-आत्मज्ञानी व सदाचारी ही धार्मिक अन्यथा अधार्मिक	54
(5)	संवर-निर्जरा-मोक्ष हेतु तप-त्याग-धर्म करूँ न कि सांसारिक कार्य हेतु	68
(6)	तपस्या की आत्मकथा व आत्मव्यथा	94
(7)	मुझे ऐसे तप त्याग न चाहिए...! ?	102
(8)	पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त से कर्मनाश करूँ! ?	112
(9)	स्व-जिज्ञासा रूपी परम तप मैं करूँ!	121
(10)	स्वाध्याय परम तप से मुझे प्राप्त लाभ	122
(11)	तीन लोक-तीनों काल में स्वाध्याय परम तप क्यों ?	123
(12)	विनय अन्तरंग तप व मोक्ष द्वार	126
(13)	उपवास का स्वरूप व फल	137
(14)	परम आध्यात्मिक (विभाव) त्याग करूँ जहाँ न त्याग न ग्रहण	139
(15)	स्व शुद्धात्मा स्वभावमय परमशील गुणी बनूँ	166
(16)	उत्तम शौच धर्म	187
(17)	उत्तम तप धर्म	188
(18)	ध्यान की आत्मकथा	189
(19)	समता V/S ध्यान	190
(20)	उत्तम त्याग धर्म	191
(21)	दान V/S त्याग	192
(22)	उत्तम संयम धर्म	193
(23)	मेरा परम अस्तित्व/(सत्य)	194
(24)	सुसंवाद- सुसमाचार-चर्चा करूँ या समता से मौन में रहूँ	195
(25)	स्व में रमण रूपी संयम ध्यान से सर्वज्ञ बनूँ	224

विमल-अरिहन्त भगवान् की स्तुति

(भगवान् के अरिनाशक-निषेधपरक गुणों की स्तुति)

(चाल :- 1. क्या मिलिए... 2. आत्मशक्ति...) - आचार्य कनकनन्दी

हे! विमलनाथ हे! विगतमल, घातीनाश से बने निर्मल।
लोकालोक प्रकाशी ज्ञान केवल, जिससे बने आप तीर्थंकर।।
विराग होने से आप वीतराग, विधूत अशेष संसार नाश।
विमुक्त पद के भी आप हो कान्त, वीतसंज्ञा होने से सुख अनन्त।। (1)

अरि-रज-रहस्य के विनाशक आप, अतएव आप हो अरिहन्त।
अतएव आप हो विभव विभय, विरतोऽसंग विविक्त आप्त।।
विशोक आप हो वीतमत्सर, वियोग निष्क्रिय हो निराहार।
निर्निमेष आप हो निरूपप्लव, निष्कलंक आप हो निर्विकार।। (2)

अलेप आप हो अमोघशासन, अमोघवाक् हो अमोघआज्ञाधारक।
विकलंक आप हो कलातीत, कलिलघ्न आप हो विकल्मष।।
अनिद्रालु आप हो अतन्द्रालु, उत्सन्नदोष निर्विघ्न निश्चल।
निर्ग्रन्थेश हो निरम्बर निष्किञ्चन, हो आप निराशंस।। (3)

कलिघ्न कर्मशत्रुघ्न हो आप निरुत्सुक अजित आप हो जितान्तक।
जितक्रोध आप हो जितमित्र जितक्लेश आप हो सर्वदोष हर।।
अनन्तदर्शी आप हो अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी हो अनन्तवीर्यवान्।
अक्षय अव्यय गुणगणधारी आप हो अशेषज्ञ अरिहन्त।। (4)

गणधर भी न जान सके आपके अनन्तगुण किन्तु आप हो अनन्तज्ञ।
आप के अनन्त गुण कथन में मैं असमर्थ आपके गुण चाहे 'कनक'।। (5)

नन्दौड़ दि. 20.11.2018 रात्रि 08:05

(यह कविता मेरे शिष्य ब्र. रोहित के कारण बनी।)

वन्दे तद्गुणलब्धये हेतु ही पूजा-प्रार्थनादि करूँ

(भक्ति से बनूँ भगवान् न कि भिखारी)

(भगवान् या पूजनीय की पूजादि उनके पूज्य गुणों को स्वयं में प्रगट करने हेतु करूँ)

(चाल :- आत्मशक्ति....2. क्या मिलिये....)

'' वन्दे तद्गुणलब्ध्ये'' हेतु ही करूँ मैं पूज्यों की प्रार्थना।
पूज्य पुरुषों की गुण प्राप्ति हेतु करता हूँ पूज्यों की आराधना।।
पूज्य होते मेरे आदर्श उनका आदर्श अनुकरण करूँ।
प्रज्ज्वलित दीप के सम्पर्क से जले यथा बुझा हुआ दीपक।।(1)
अरिहंत-सिद्ध होते विरागी न देते आशीष या अभिशाप।
भौतिक सत्ता-सम्पत्ति रहित होने से न देते भौतिक द्रव्य।।
(साक्षात्) अरिहंत-सिद्ध यदि ये न देते उनकी प्रतिमा क्या देगी ?
तथापि उनके गुण स्मरण-अनुकरण से आत्मशक्ति प्रकट होगी।।(2)
आत्मिक अनन्त(अक्षय) वैभव हेतु वे भी त्यागते राज्य वैभव।
मैं भी स्व-आत्मिक वैभव प्राप्ति हेतु उनका करता हूँ स्तवन।।
जीवन्त तीर्थंकर भी स्व-भक्त शिष्यों को न देते धन।
केवल आत्म वैभव प्रकट हेतु करते दिव्य प्रवचन।।(3)
वे कहते हैं मेरे समान ही तुम्हारा वैभव तुम में स्थित।
तुम भी उसे प्रकट करो जैसा मैंने किया प्रगट।।
मेरे समान भी तुम भी प्रकट करो आत्म श्रद्धान ज्ञान चारित्र।
राग द्वेष मोह काम क्रोध नाश जिससे तेरे वैभव होंगे प्रगट।।(4)
यथा बादल के हटने पर सूर्यकिरण से छाया नशती।
तथाहि तेरे कर्म नाश से तेरी समस्यायें भी नाश होगी।।
जो ऐसा नहीं करते उनका उद्धार/(उपकार) प्रभु से भी न होता।
यथा मारिचिकुमार अरबों भव तक दुःखों को पाया।।(5)
किन्तु जो श्रद्धा से भगवान् के वचन के अनुसार चले।
वे सभी पापी पशु-मनुष्य-देव स्वर्ग-मोक्ष के सुख पाये।।
मैं भी पूज्यों व मूर्ति की प्रार्थना-वन्दना-स्तुति आराधना करूँ।

स्व-विभावों को नाश करके स्व-वैभव को प्राप्त करूँ।।(6)
किसी भी प्रकार सांसारिक सत्ता-सम्पत्ति नहीं चाहूँ।
ख्याति-पूजा-लाभ प्रसिद्धि सत्कार वर्चस्व नहीं चाहूँ।।
प्रभु की भक्ति से पाप नाश से व सातिशय पुण्य संचय से।
स्वयमेव सांसारिक वैभव मिले किन्तु याचना/(निदान) से होता है मिथ्यात्व।।(7)
सांसारिक वैभव क्यों चाहूँ क्योंकि मेरा वैभव तो मुझ में स्थित।
मैं भक्ति करूँ भगवान् बनने हेतु भिखारी बनना न मेरा लक्ष्य।।
अभी भी मेरी ऐसी भावना (व प्रवृत्ति) से मुझे मिल रही आत्मिक शान्ति/(प्रगति)....।
अनन्त-आत्मिक शान्ति की उपलब्धि हेतु 'कनक' करे प्रभु भक्ति।।(8)

नन्दौड़-17.11.2018 रात्रि-8.00

सन्दर्भ-

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःख निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतोनित्यम्। (119)। (र.श्रा.)

श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाली और काम को भस्म करने वाली पूजा करनी चाहिये। अरहंत भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली पूजा करना चाहिये। समन्तभद्र स्वामी दान, जिनार्चना को वैयावृत्ति में अन्तर्निहित करके यह बताये हैं कि तीनों परस्पर परिपूरक, अनुपूरक हैं। उपरोक्त कार्य से यथार्थतः पाप संचय नहीं होता है परन्तु संचित पाप कर्म का प्रक्षालन होता है। कहा भी है :-

गृह कर्मणापि निचितं कर्म विमाष्टि खलु गृह विमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।(114)

जिन्होंने अंतरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसा मुनियों के लिये जो दान किया जाता है वह सावद्य-व्यापार-सपाप कार्यों से उत्पन्न बहुत कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि स्वच्छ जल, मलिन रूधिर को धो देता है-नष्ट कर देता है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्। (116) र.श्रा.

उचित समय में योग्य पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वट वृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए माहात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष में छाया की प्रचुरता सहित बहुत भारी अभिलषित फल को देता है।

आचार्य श्री ने संक्षिप्ततः इसका फल लिखकर विराम नहीं लिये परन्तु प्रत्येक प्रकार भक्ति आदि से क्या-क्या फल की उपलब्धि होती है बताये है। यथा-

उच्चेर्गोत्रे प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्ते सुन्दररूप स्तवनात्कीर्ति स्तपोनिधिषु।। (115)

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, सेवा से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप, तथा आप ज्ञान के सागर है'' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

यदि छठे सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनियों को नमस्कार आदि करने से उपर्युक्त फल प्राप्त होता है तब क्या तेरहवे गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान् तथा नव देवताओं की पूजा अर्चना, भक्ति, आदर, सत्कार, नमस्कार आरती आदि करने से उभय लोक सुखदायक फल की प्राप्ति नहीं होगी ? निश्चय से होगी ही। इसीलिये किंचित् प्रासंगिक सावद्य भय से उभय लोक सुखदायक दान-पूजादिक का त्याग नहीं करना चाहिये। यह मत केवल मेरा ही नहीं है यह अभिप्राय स्वामी समन्तभद्र, जयधवला, धवलाकार आचार्य वीरसेन से लेकर सभी पूर्वाचार्यों के हैं जिसका वर्णन इसी पुस्तक में यत्र तत्र सर्वत्र आपको देखने में मिलेगा । तो भी संक्षिप्ततः समन्तभद्र स्वामी की एक कारिका उद्धृत कर रहा हूँ। यथा-

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीत शिवाम्बु राशौ।।

हे जिनेन्द्र भगवान्! आप ही निर्दोष होने के कारण पूज्य हैं। आपकी पूजा करने वाले को लेश मात्र पाप संचय होता है एवं विपुल मात्रा में पुण्य संचय होता है इसीलिए आपकी पूजा दोषकारक नहीं है। जैसे शीतल अगाध समुद्र की जल राशि में एक कण विष डालने से वह विष-कण विपुल जल राशि को दूषित नहीं बना सकता है उसी प्रकार इहलोक-परलोक, अभ्युदय एवं मोक्ष सुख को देने

वाली पूजा से यत्किंचित् पाप होते हैं किन्तु वह दोषकारक नहीं है।

परिणाममेव कारण माहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।

तस्मात् पापापचयःपुण्योपचयश्च सुविधेयः। (आत्मानुशासन)(23)

पुण्य एवं पाप के लिए प्राज्ञ व्यक्तियों ने परिणाम (भाव) को ही कारण कहा है। इसीलिए पाप का अपचय (विनाश) करना एवं पुण्य का संचय करना सहज है।

पूजा का मूल उद्देश्य या साध्य दर्शन-विशुद्धि, पंच परमेष्ठी प्रति समर्पित भाव, विनय, पुण्य संचय, निर्जरा एवं परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति है। इसलिए मुमुक्षु गृहस्थों को यथायोग्य आगमोक्त द्रव्य पूजा सहित भाव पूजा करनी चाहिए। यदि कोई आगमोक्त पूजा कर रहा है एवं स्वयं कोई कारणवशतः नहीं कर रहा है तो आगमोक्त पूजा करने वालों का किसी प्रकार से विरोध नहीं करना चाहिए तथा श्रद्धान रखना चाहिए कि मैं किसी कारणवशतः आगमोक्तरीति से पूजा नहीं कर पा रहा हूँ परन्तु आगम में वर्णित पद्धति ही यथार्थ है। आगम का श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन है। कुंदकुंद स्वामी ने कहा भी है :-

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं।

केवलि जिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।। (22)(दंसण पाहुड)

जितना करने की सामर्थ्य हो उतना करना चाहिए, जितना करने की सामर्थ्य नहीं है उसमें श्रद्धान् करना चाहिए, जितना करने की सामर्थ्य नहीं है उसमें श्रद्धान् करना चाहिए। केवली जिनेन्द्रों ने कहा है श्रद्धान् करने वालों को सम्यक्त्व होता है।

पूजा-फल-

अरहंतादि पंचपरमेष्ठी या नव देवता यथायोग्य राग-द्वेष से रहित होने के कारण वे पूजा आदि से प्रसन्न होकर वर प्रदान नहीं करते हैं तथा निंदा अवमानना आदि से अभिशाप नहीं देते हैं। तब स्वाभाविक प्रश्न होता है कि यदि वे प्रसन्न होकर या रूष्ट होकर हमारा कुछ लाभ-हानि नहीं करते हैं तो उनकी अर्चना से क्या लाभ है ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर समन्तभद्र स्वामी के वचन में निम्न प्रकार है :-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः1।(57)।।

हे जिनेन्द्र भगवान्! आप वीतराग होने के कारण आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है तथा निंदा करने वालों से आपका किसी प्रकार का वैरत्व नहीं है तथापि आपके पुण्य श्लोक, गुणों के स्मरण मात्र से चित्त पवित्र हो जाता है एवं पाप रूपी कलंक दूर हो जाते हैं।

परिणत दशा में बाह्य शुभाशुभ द्रव्यों का परिणाम जीवों पर भी शुभाशुभ रूप से पड़ता है जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि विभिन्न रंग की संगति से विभिन्न रूप से परिणत करता है, जैसे लौह खण्ड चुम्बक के घर्षण से चुम्बक रूप परिणमन कर लेता है, बुझा हुआ दीप प्रज्वलित दीपक की संगति से प्रज्ज्वलित हो जाता है, वीर पुरुषों के फोटो देखने से उनकी जीवनगाथा सुनने से, स्मरण करने से अंतरंग में वीरत्व भाव जागृत होता है, कामी पुरुष द्वारा अश्लील चित्र, संगीत, सिनेमा, नाटक देखने से तथा तद्विषयक पुस्तक पढ़ने से, स्मरण करने से उसके मन में काम चेतना जागृत होती है। महापुरुष, धर्मात्मा पुरुष, वीतराग पुरुष की मूर्ति देखने से, उनके गुणगान करने से, उनकी स्तुति करने से, मन में भी उनके आदर्श गुण जागृत हो जाते हैं। यह ही मनोवैज्ञानिक अनुभवगम्य सिद्धान्त पूजा-अर्चना-स्तुति में निहित है। पूज्य पुरुष पूजक के लिए आदर्श (दर्पण) के समान होते हैं। जैसे स्वमुख को देखने की इच्छा रखने वाला स्वच्छ दर्पण को देखता है उसी प्रकार स्वात्मा गुणों को देखने का इच्छुक आदर्श पुरुष का दर्शन करता है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने प्रवचनसार में स्वआत्मद्रव्य परिज्ञान का उपाय बताते हुए वर्णन किया है :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (80)।

जो अरहंत भगवान् को द्रव्य-दृष्टि, गुण-दृष्टि, पर्यायदृष्टि से जानता है वह स्वआत्मद्रव्य को जानता हे और उसका मोह विलय हो जाता है। भक्त जब भगवान् के पास जाता है तथा वह भगवान् के स्वरूप रूपी दर्पण से अपने स्वरूप का दर्शन करता है, जब वह द्रव्य दृष्टि से स्वयं को एवं भगवान् को देखता है तब दोनों में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि पूज्य भी जीव द्रव्य है तथा

पूजक भी जीव द्रव्य है। गुण दृष्टि से भी कोई विशेष अंतर परिलक्षित नहीं होता है। किन्तु जब पर्याय दृष्टि से अवलोकन करता है तब दोनों में महान् अन्तर परिलक्षित होता है क्योंकि भगवान् पर्याय दृष्टि से अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के अक्षय भण्डार है एवं पूजक स्वयं अनन्त अज्ञान, दुखादि को भोगने वाला है।

इंग्लिश में एक नीति वाक्य हैं-

There is no diffference between God and us.
But there is so difference between God and us.

अर्थात् द्रव्यदृष्टि से भगवान् और हमारे में कोई अन्तर नहीं है किन्तु अवस्था दृष्टि (पर्याय दृष्टि) से भगवान् और हमारे में महान् अंतर है। भक्त भगवान् के पास एक अलौकिक उपादेय प्रशस्त स्वार्थ को लेकर जाता है। उसका स्वार्थ यह है कि मेरा स्वरूप भगवत् स्वरूप होते हुए भी में अभी दीन-हीन भिखारी के समान हूँ। मैं भगवान् के पास जाकर उनसे वहीं शिक्षा प्राप्त करूंगा जिस मार्ग पर चलते हुए भगवान् ने इस परमोत्कृष्ट नित्यानंद अवस्था को प्राप्त किया है। इसीलिए भक्त की आद्यन्त भावना एवं परिणति निम्न प्रकार की होती है-

दासोऽहं रटता प्रभो आया जब तुम पास।
''द'' दर्शत हट गयो, ''सोऽहं रहो प्रकाश''।।
सोऽहं सोऽहं ध्यावतो रह न सको सकार।
दीप ''अहं'' मय हो गयो अविनाशी अविकार।।

जब भक्त भगवान् के पास आता है तब वह स्वयं को दास (पूजक) एवं भगवान् को प्रभु (पूज्य) मानता है। जब भगवान् का दर्शन करके भगवान् का स्वरूप एवं स्व स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है, तब वह पूज्य के गुणों को अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करता है तब सोऽहं रूप विकल्प भी विलय हो जाता है, तब अहं रूप अविनाशी, अविकार स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह ही पूजा का परमोत्कृष्ट फल है। आचार्य प्रवर उमास्वामी ने कहा है - ''वन्दे तद्गुणलब्ध्ये''अर्थात् मैं वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, भगवान् को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

पूजा, वंदना, अर्चना, विनय, समर्पित भाव में ऐसी एक शक्ति है जिससे

पूजक के मन में पूज्य के गुण संचार करते जाते हैं तथा धीरे-धीरे पूजक भी पूज्य बन जाता है। विद्वद्वर श्री आशाधरजी ने अध्यात्म रहस्य के मंगलाचरण में कहा हैः-

भव्येभ्यो भजमानेभ्यो यो ददाति निजपदम्।
तस्मै श्री वीरनाथाय नमः श्री गौतमाय च।।

जो भजमान भव्यों को भक्ति में अनुरक्त सुपात्र भव्य जीवों को अपना पद प्रदान करते हैं- जिनके भजन आराधन से भव्य प्राणियों को उन जैसे पद की प्राप्ति होती है- उन श्री वीर स्वामी को अक्षय ज्ञान लक्ष्मी एवं भारती विभूतिरूप '' श्री'' से सम्पन्न भगवान् महावीर को तथा श्री गौतम स्वामी को नमस्कार हो।

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के पास जो गुण होते हैं वे ही गुण पूजक को देते हैं। भगवान् के पास स्वरूप को छोड़कर और कुछ उनके पास है ही नहीं। इसलिये वे भक्त को स्व-स्वरूप ही दे देते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्ध मिदं वचः।। इष्टोपदेश।। (23)।।

आत्म ज्ञान से शून्य अज्ञानियों की सेवा उपासना अज्ञान को देती है और ज्ञानियों की सेवा उपासना ज्ञान उत्पन्न करती है क्योंकि यह बात अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्य के पास जो कुछ होता है उसी को वह देता है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।। (97)।। समाधितन्त्र।।

अपने आत्मा से भिन्न अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा की उपासना आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाता है। जैसे-दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी-साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायेतमात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयता याति सोपधिः स्फटिको यथा।।

जिस भाव से जिस प्रकार यह आत्मा का ध्यान करता है वह उस स्वरूप हो जाता है जैसे-स्फटिक मणि विभिन्न रंगों के सम्पर्क से उस वर्ण रूप परिणमन करता है।

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हत्ध्यानाविष्टो भवार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्।।

यह आत्मा जिस भाव से परिणमन करता है वह उस स्वरूप हो जाता है। अर्हत् के ध्यान सहित ध्याता स्वयं अर्हत् रूप हो जाता है।

जिनार्चना से बहुआयामी लाभ होता है। इससे महान् आत्मा के प्रति विनय भाव प्रकट होता है। मानसिक शान्ति मिलती है जिससे मानसिक तनाव दूर होने के कारण शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य प्राप्त होता है। पूज्य पुरुषप्रति प्रशस्त राग होने के कारण पाप कर्म के संवर के साथ-साथ असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा एवं सातिशय पुण्य बन्ध होता है। जिससे अभ्युदय के साथ-साथ अन्त में मोक्ष सुख की उपलब्धि होती है। पूज्य पुरुष का नामोच्चारण, गुणगान, नामस्मरण स्वयं मंगल स्वरूप है। वीरसेन स्वामी ने धवला में तथा यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ति में मंगल को विस्तृत वर्णन करते हुए निम्न प्रकार कहा है :-

पुण्ण पूदपवित्ता पसत्थ सिवभद्धसेम कल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वेणिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्ञाया।। (8)।

पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादि सब मंगल के ही पर्याय अर्थात् समानार्थक शब्द कहे गये हैं।

गालयदि विणासयदेघादेदि देहदि हंति सोधयदे।
विध्दंसेदि मलाई जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं।। (9)।।

क्योंकि यह पाप या मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है इसीलिए इसे मंगल कहा गया है।

अहवा बहुभेयगयं णाणवरणादिदव्वभावमलभेदा।
ताईं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं।। (4)।।

अथवा ज्ञानावरणादिक द्रव्यमल के और ज्ञानावरणादिक भावमल के भेद से मल के अनेक भेद हैं, उन्हें चूँकि वह पृथक् करता है, गलाता है अर्थात् नष्ट करता है, इसलिए यह 'मंगल'' कहा गया है।

अहवा मंग सोक्खं लानादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।
एदेण कज्जसिद्धि मंगइ गच्छदि गंथकत्तारो।। (5)।।

अथवा, चूँकि यह ''मंग'' को अर्थात् सुख को लाता है, इसलिए भी इसे ''मंगल'' समझना चाहिए। इसी के द्वारा ग्रंथकर्त्ता अपने कार्य की सिद्धि पर पहुँच जाता है।

पावं मलं ति भण्णइ उपयार सरूवरएण जीवाणं।
तं गालेदि विणासं णेदि ति भणंति मंगलं केई।। (7)।।

जीवों के पाप को उपचार से मल कहा जाता है। उसे मंगल गलाता है, विनाश को प्राप्त करता है, इस कारण भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं।

अरहंताणं सिद्धाणं आइरिय उवज्झयाइं साहूणं।
णामाइं णाममंगल मुद्दिट्ठं वीयराएहिं।।(9)।।

वीतराग भगवान् ने अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इनके नामों को नाममंगल कहा है।

ठावणमंगलमेदं अकट्टिमाकिट्टिमाणि जिणबिंबा।
सूरि उवज्झसाहूदेहाणि हु दव्वमंगलयं।। (20)।।

जिन भगवान् के जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब है, वे सब स्थापना मंगल हैं। तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य मंगल है।

णासदि विग्घं भेददि अग्घं दुट्ठा सुरा ण लंघंति।
इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणाममगहणमेत्तेण।।(30)।।

जिन भगवान् के नाम के ग्रहण करने मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते है, पाप खण्डित होता है, दुष्ट देव लांघते नहीं अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करते और इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।

सत्थादि मज्झअवसाणएसु जिणतोत्तमंगलुच्चारो।
णाराइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रविव्व तिमिराई।। (3)।।

शास्त्र 'के आदि, मध्य और अन्त में किया गया जिनस्तोत्ररूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार सूर्य अंधकार को।

पूज्यपाद स्वामी, जिन भक्ति का महत्व प्रतिपादन करते हुए समाधि भक्ति में निम्न प्रकार कहते हैं :-

एकापि समर्थेय जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।। (8)।।

एक ही जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति समस्त दुर्गतियों का निवारण करने के लिये, सातिशय पुण्य को सम्पादन करने के लिए मुक्ति श्री को प्रदान करने के लिए समर्थ है।

जन्म-जन्म कृतं पापं जन्मकोटि समार्जितम्।
जन्ममृत्युजरामूलं हन्यते जिनवंदनात्।। (5)।।

जन्म-जन्म में किया हुआ पाप, कोटि जन्मों में उपार्जित पाप तथा जन्म-जरा-मृत्यु, जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना से नष्ट हो जाते हैं।

विघ्ना प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति।
अर्थान्यथेष्टाश्चे सदा जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन।। (2)।। धवला

जिनेन्द्र देव के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नाश को प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरंतर यथेष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है।

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तद्विघ्नप्रसिद्धये।(22)। धवला

विद्वान् पुरुषों ने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्य के आदि, मध्य और अंत में मंगल करने का विधान किया है। वह मंगल निर्विघ्न कार्य सिद्धि के लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का कीर्तन करना ही है।

इसी धवला में वीरसेन स्वामी मंगल, भक्ति, पूजा, स्वाध्यायादि शुभोपयोग से जो सर्वांगीण लाभ होता है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं-

तत्र हेतुर्द्विविधः प्रत्यक्ष हेतुः परोक्ष हेतुरिति कस्य हेतु : ? सिद्धान्ताध्ययनस्य तत्र प्रत्यक्ष हेतुर्द्विविध साक्षात्प्रत्यक्ष परम्परा प्रत्यक्ष भेदात्।

तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभि सततमभ्यर्चन प्रति समयमसंख्यात गुणश्रेण्या कर्म निर्जरा चा कर्म णामसंख्यात गुण-श्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधि, मनः पर्यय ज्ञानिनासूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम्। परोक्षदिविध, अभ्युदय नेःश्रेयस मिति तत्राभ्युदयसुखं नामा सातादि प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय जिनेन्द्र प्रतीन्द्र सामानिक त्रायस्रिंशदादि देव चकवर्ती बलदेव नारायणधर्मण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक राजधिराज-महाराजाधिराज परमेश्वरादि दिव्य मानुष्य सुखम्। (धवला पु. पृ. 55)

हेतु दो प्रकार का होता है। एक प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु।

शंका : यहाँ पर किसके हेतु का कथन किया जाता है ?

समाधान : यहाँ पर सिद्धान्त के अध्ययन के हेतु का कथन किया जाता है।

उन दोनों प्रकार के हेतुओं में से प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकार का है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु। उनमें से अज्ञान का विनाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, देव, मनुष्यादि के द्वारा निरंतर पूजा का होना और प्रत्येक समय में असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा का होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु फल समझना चाहिए।

शंका : कर्मों की असंख्यात-गुणित श्रेणी रूप से निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है ?

समाधान : ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि सूत्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यात-गुणित श्रेणी रूप से प्रति समय कर्म निर्जरा होती है, यह विषय अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिक के द्वारा निरंतर पूजा परंपरा, प्रत्यक्ष हेतु है। परोक्ष हेतु भी दो प्रकार की है, एक अभ्युदय सुख और दूसरा नैश्रेयस सुख। इनमें से साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियों के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव संबंधी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्ध-मण्डलीक, मण्डलीक महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य सुख को अभ्युदय सुख कहते हैं।

जिनदर्शनः निजदर्शन-

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनाम्।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनम्।। (1)।।

देवाधिदेव अरहन्त भगवान् का दर्शन पापों का नाशक है, स्वर्ग की सीढ़ी है और अधिक क्या दर्शन मोक्ष का भी साधन है।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम्।। (2)।।

जिस प्रकार छिद्र सहित हाथों में जल बहुत समय नहीं टिकता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र देव के दर्शन और साधुओं की वंदना करने से पाप लम्बे समय तक नहीं ठहरते हैं।

मां फलेषु कदाचन

फलों के प्रति अधिकार बुद्धि रखने से उत्पन्न तीन दोषों के बाद चौथे दोष के विषय में बताया गया है क्रोधात् भवति सम्मोहः अर्थात् क्रोध से सम्मोह पैदा होता है। यही क्रोध मन की स्थिरता की कम्पित कर देता हैं। इस क्षोभ रूप उद्वेग से मन में 'मोह' का उदय होता है। क्रोधग्रस्त आत्मा मोहग्रस्त बन जाता है।

सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम अर्थात् भिन्न भिन्न अवसरों, परिस्थितियों के अनुरूप मन में संस्कार पैदा होते रहते हैं, प्रकट होते रहते हैं। इसी को याद आना स्मृति कहते हैं। क्षोभ के कारण संस्कारों का क्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। इस कारण स्मरण शक्ति भी सुरक्षित नहीं रहती।

यही 'स्मृति विभ्रम' दोष कहलाता है। मोहग्रस्त मानव के पतन का यह पंचम सोपान है।

बुद्धिनाश

मन ही बुद्धि का आधार है। मन की स्थिति के उतार-चढ़ाव से बुद्धि में भी उतार-चढ़ाव आता है। शान्त मन में बुद्धि भी शान्त स्थिर स्वस्थ रहती है। जैसे शान्त जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब।

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाश : अर्थात् जब एक बुद्धि नानाभाव युक्त हो जाती है तो अस्थिर जल के प्रतिबिम्ब की तरह एकभाव बुद्धि खण्ड खण्ड हो जाती है। यही खण्डित अवस्था प्रतिबिम्ब का विनाश है। ऐसी ही स्थिति स्मृतिभ्रंश से भी हो जाती है। पतन के इस स्वरूप को बुद्धिनाश कहा है।

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति अर्थात् बुद्धिनाश से मनुष्य का नाश हो जाता है क्योंकि बुद्धि से जब विवेक लुप्त हो जाता है तब वह निश्चित कर्त्तव्य पथ से युक्त नहीं हो पाती। नष्ट बुद्धि को गीता में अयुक्त कहा है।

परिणाम

फल में अधिकार बुद्धि रखने वाला कभी कर्त्तव्य-कर्म में जागरूक नहीं रह सकता। ऐसे फलासक्त को अयुक्तता, स्तब्धता आदि आठ उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं-

(1) जो सदा लाभ का, फल का ही चिन्तन करता है, वह सबसे पहले 'अयुक्तता' प्राप्त करता है। कभी कर्त्तव्य-कर्म के साथ युक्त नहीं होता।

(2) प्राण (सूक्ष्म) शक्ति से युक्त कर्म से वंचित होने के कारण कालान्तर में वह 'प्राकृत' बन जाता है। पंच भौतिक विश्व में कृमि-कीट- पक्षी-पशु ये चारों प्राकृत जीव होते हैं। आत्म स्वरूप इनके कर्मों में प्रकट ही नहीं होता। आहार-निद्रा भय-मैथुन तक सीमित रहते हैं। यह प्राकृतता द्वितीय उपलब्धि है।

(3) अपनी प्राकृत सीमा में अमर्यादित पशुओं की तरह गर्जन करने वाला प्राकृत-बुद्धि शून्य मानव-बौद्धिक, प्रज्ञावान् लोगों के सामने स्तब्ध, कुण्ठित, शून्य-शून्य बन जाता है। जैसे पिंजरे का शेर। यह 'स्तब्धता' तीसरी उपलब्धि है।

(4) प्राकृतिक प्राणियों पर समाज के नियम लागू नहीं होते। वह फल प्राप्ति के लाभ में अपने परिजनों तक से क्रूर बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रतिक्रियावादी, उद्दण्ड, विनयशून्य होकर जड़ता की अभिव्यक्ति करते हैं। यही 'शठता' रूप चौथी उपलब्धि है।

(5) पाँचवी उपलब्धि है निकृति भाव। शठता युक्त हीन मानव का कोई 'अपना' नहीं होता। वह सबकी भर्त्सना, अवहेलना, तिरस्कार करता रहता है। इसी शठता की वृद्धि सीमा निकृति भाव है। यह 'कृतघ्नता' का ही दूसरा रूप है। इंसान तो फिर भी है ही। अतः असत् कर्मों में लिप्त रहकर भी दुःखी रहता है। फिर भी हीन भावों के आगे समर्पण नहीं कर पाता।

(6) सत्प्रवृत्ति इसे असत्कर्मों से निरुद्ध ही करती रहती है। इसके पास सत्कर्म का लक्ष्य नहीं रहता। असत्कर्मों में कई कारणों से निरन्तर प्रवृत्ति भी संभव नहीं होती। अतः इसका अधिक समय 'आलस्य' में ही बीतता है। यही सत्कर्म शून्य का छठी उपलब्धि है।

(7) जुआ, तस्करी, हिंसा, परपीड़न आदि असत्-निन्द्य कर्मों से नीच प्रवृत्ति-जन को अभीष्ट सम्पति भी प्राप्त हो सकती है। काम-भोग भी बढ़ सकता है। फिर भी वह भीतर से असंतुष्ट, क्षुब्ध, विकम्पित ही रहता है। यही कर्मशून्य की 'विषाद' नामक सातवी उपलब्धि है।

(8) विषाद वृत्ति ही इन्हें तन्द्रायुक्त बनाए रखती है। ये कार्य को सदा टालते रहते हैं। उद्यम साहस धैर्य बुद्धि शक्ति पराक्रम आदि का स्थान निद्रा-तन्द्रा

भय,क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता आदि ले लेते है। यह आठवी उपलब्धि है। इनका कोई कार्य समय पर नहीं होता। और यदि होता भी है, तो विषाद युक्त सर्वनाश का प्रवर्तक ही होता है।

इन आठों उपलब्धियों को गीता में एक ही श्लोक में संकलित कर श्रीकृष्ण कहते हैं-

''अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः, शठो, नैकृतिकोऽलसः।
विषादी, दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।। (''गीता 18.28)

इस प्रकार एकमात्र फलाधिकारबुद्धि से ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठा से वंचित रहता हुआ नाश परम्परा को प्राप्त करता है। फलाकांक्षी व्यक्ति कर्म पर अपना अधिकार खो देता है। वह अपने लक्ष्य से च्युत होकर समूल नाश परम्परा को प्राप्त होता है।

प्रत्येक गुठली पेड़ बनना चाहती है। चाहती है कि उसके भी खूब फल लगे। छायादार वृक्ष बने। किन्तु संभव कैसे हो ? गुठली को जमीन में गड़ना होगा। फल की इच्छा त्यागनी होगी। वृक्ष भी बन जाएगी अथवा नहीं, ईश्वर जाने। अतः उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही कर्म बन गया। सम्पूर्ण कर्म ही ब्रह्म बन जाता है।

क्या कोई दैवीय प्राथमिकताएँ, दैवीय अन्याय तथा देवीय अनियमितताएँ होती हैं *-महात्रया रा*

हो सकता है कि ऐसा दिखाई दे, परंतु अस्तित्व संबंधी व्यवस्था सदा शून्य प्रभाव के साथ होती है। सब कुछ ऐसा ही है, जैसा होना चाहिए। अस्तित्व में कोई अनियमितताएँ नहीं है। यदि मुझे किसी रूपक का प्रयोग करना हो, तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि कोई व्यक्ति कितना भला और नेक इंसान है, यदि वह वाहन चलाना नहीं जानना चाहता और उसके बावजूद उसे चलाने का प्रयत्न करता है, तो निश्चित रूप से उसे दुर्घटना का सामना करना होगा। अधिकतर व्यक्तियों के जीवन में कष्ट इसलिए ही है क्योंकि हो सकता कि वे भले और नेक हों, हो सकता है कि ईश्वर में विश्वास भी रखते हों परंतु वे जीवन जीने की क्षमता विकसित करने में असफल रहे हैं।

हम केवल यही विश्वास रखते हैं कि ईश्वर या ईश्वर के संदेशवाहकों को पूजने या ईश्वर के अवतारों के आगे माथा टेकना ही उनका आशीर्वाद पाने के लिए

पर्याप्त है। हम इसी अज्ञान में खोए हैं कि हमारी सारी पूजा, अनुष्ठान और चढ़ावे के कारण, ईश्वर स्वयं आगे आएँगे और हमारी रक्षा करेंगे। हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए स्वयं ही तरह-तरह के चढ़ावे तैयार कर लेते हैं, सभी अवसरों को अपने पक्ष में करने की जुगत लगाते हैं, अपने प्रियजन की लंबी आयु की कामना के लिए नाना प्रकार के चढ़ावों का प्रलोभन देते हैं, आदि...परंतु हमने निरंतर ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, कर्म तथा अन्य सद्गुणों को उपेक्षित करने का निर्णय लिया है, जो सभी ग्रंथों में निश्चित रूप से स्थान पाए हुए हैं।

इस विषय में विचार करें। यदि केवल ईश्वर की उपासना करना या भगवान् की पूजा करना ही पर्याप्त होता, तो बाइबल किसलिए, कुरान क्यों ? भगवद् गीता क्यों ? ये सब धार्मिक ग्रंथ किसलिए ? दरअसल, प्रत्येक ग्रंथ के आधार में, आपको वे मूल्य ही मिलेंगे, जो मुझे और आपको अस्तित्व के इस आदेश के अंगों की सीख देंगे ताकि मैं और आप अस्तित्व के आदेश के साथ सामंजस्य बनाते हुए अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

भले ही आप गणित के टीचर के पुत्र क्यों न हो, अगर आप दो और दो के जोड़ को तीन कहेंगे तो आपको ग़लत ही माना जाएगा। भले ही आप परीक्षक को न जानते हों, परंतु अगर आप दो और दो के जोड़ को चार लिखेंगे तो आपको सही ही माना जाएगा। यहाँ तक कि जो लोग यह नहीं जानते कि ईश्वर क्या है ?', जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास तक नहीं रखते, जब तक के अस्तिपरक आदेश के अनुक्रम में जीवनयापन करते रहते हैं, जो कि हमें सभी धार्मिक ग्रंथ सिखाते हैं, तो वे सदा उसकी कृपा से अनुग्रहीत रहेंगे। आप अस्तित्वपरक व्यवस्था के साथ जितना तालमेल बना कर रखेंगे, आप उसकी अनुकंपा का उतना ही अधिक प्रसाद पाएँगे। जब आप उस अस्तित्वपरक व्यवस्था के साथ तालमेल बनाते हैं, उसके अनुरूप चलते हैं तो आपको इसके परिणामस्वरूप, उसकी कृपा व मेहर के रूप में आध्यात्मिक प्रसाद मिलता है। कष्ट आध्यात्मिक फीडबैक देता है कि कहीं न कहीं आप उस अस्तित्वपरक व्यवस्था से विमुख हो गए हैं। ईश्वर कोई विश्वास का विषय नहीं, यह एकत्रीकरण से संबंध रखता है।

कृष्ण के अवतार ने अठारह अध्यायों में उपदेश देते हुए, अर्जुन के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर तथा जिज्ञासा का समाधान करते हुए, अपना समय व्यर्थ क्यों किया?

कृष्ण अर्जुन से केवल इतना भी तो कह सकते थे, ''मेरी तीन बार प्रदक्षिणा करो, मुझ पर थोड़ा दूध और घी डालो, अपने शरीर पर चंदन का लेप करो, मेरे चरणों पर चार बार साष्टांग दंडवत करो और बस अपने बाण चला दो।'' तो, यह भगवद् गीता किसलिए ? यदि रविवार सुबह उठ कर चर्च जाना और ईसा पर विश्वास रखना ही पर्याप्त होता, तो ईसा ने अपने जीवन के तीन साल, 'क्या करें और क्या न करें' का प्रवचन देने में क्यों लगाए जो कि बाइबल बने। अगर पाँच बार नमाज़ पढ़ना ही पर्याप्त होता, तो कुरान में यह सब 'क्या करें और क्या न करें, की तुक ही क्या बनती है ? महाभारत बताता है कि दुर्योधन ने कृष्ण से उनके सारे संसाधन माँग लिए थे परंतु वे भी उसके लिए पर्याप्त नहीं रहे। अर्जुन के पास तो कृष्ण स्वयं थे और वह भी उसके लिए पर्याप्त नहीं रहा। जब अर्जुन ने धर्म को जाना और उसके अनुरूप आचरण किया तभी वह विजयश्री प्राप्त करने में सफल हो सका। यह संदेश पूरी तरह से स्पष्ट व सादा है। ईश्वर आपके लिए कार्य नहीं करता; वह आपके साथ कार्य करता है। उसका यह ढाँचा इस तरह तैयार किया गया है कि वह आपके साथ तभी काम कर सकता है, जब आप उसके अस्तित्वपरक आदेश के अनुसार चलते हैं, स्वयं को उसके अनुकूल बनाते हैं।

यदि ईश्वर संदेशवाहक है, तो धर्म ग्रंथ उसके संदेश हैं। यदि उस संदेशवाहक की अनुकंपा के साथ जीना है तो उसके संदेश का पालन करना ही होगा। केवल स्वामी को ही आदर-मान देना पर्याप्त नहीं होगा...उसके मूल्यों को भी पूरा मान देना होगा। अपने संदेशवाहक के प्रति समर्पित भाव रखो, परंतु स्वयं को उसके आदेश के अनुसार अनुशासित करो।

हम इसी अज्ञान में खोए हैं कि हमारी सारी पूजा, अनुष्ठान और चढ़ावे के कारण, ईश्वर स्वयं आगे आएँगे और हमारी रक्षा करेंगे। हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए स्वयं ही तरह-तरह के चढ़ावे तैयार कर लेते हैं, सभी अवसरों को अपने पक्ष में करने की जुगत लगाते हैं, अपने प्रियजन की लंबी आयु की कामना के लिए नाना प्रकार के चढ़ावों का प्रलोभन देते हैं, आदि... परंतु हमने निरंतर ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, कर्म तथा अन्य सद्गुणों को उपेक्षित करने का निर्णय लिया है...

अधिकतर व्यक्तियों के जीवन में कष्ट इसलिए ही है क्योंकि हो सकता है

कि वे भले और नेक हों, हो सकता है कि वे ईश्वर में विश्वास भी रखते हों परंतु वे जीवन जीने की क्षमता विकसित करने में असफल रहे हैं।

विश्वास क्या है ? क्या विश्वास मेरे जीवन में बहुत महत्व रखता है ?

एक प्रसंग के अनुसार...एक व्यक्ति ने सपना देखा कि वह सागर तट पर ईश्वर के साथ चल रहा था। आसमान में उसके जीवन के अनेक दृश्य कौंध गए। प्रत्येक दृश्य में उसे रेत पर बने पदचिह्न दिखाई दे रहे थे। कई बार उसे दो जोड़ी पैरों के निशान दिखाई देते और कई केवल एक जोड़ी निशान ही दिखाई देते। उस व्यक्ति ने यह लक्ष्य किया कि जब-जब वह अपने जीवन में अकेला, उदास, व्यथित, परित्यक्त या पराजित रहा था तो उस समय केवल एक जोड़ी पदचिह्न ही दिखाई दे रहे थे। तो उसने प्रभु से कहा, ''भगवान्! अपने तो मुझे वचन दिया था कि अगर मैंने आपको अनुसरण किया तो आप हमेशा मेरे साथ चलेंगे। परंतु मैंने लक्ष्य किया है कि जब-जब मेरे जीवन में बहुत ही कठिनाई से भरे क्षण आए, उस समय यहाँ केवल एक जोड़ी पद चिह्न दिखाई दे रहे हैं। क्यों, ऐसा क्यों ? जब मुझे अपने जीवन में आपकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, तभी आप मुझे त्याग कर चले गए ?'' प्रभु ने उत्तर दिया, ''ध्यान से देखो, जिस समय तुम्हें एक जोड़ी पदचिह्न दिखाई दे रहे हैं, वे पैरों के निशान मेरे हैं, तुम्हारे नहीं। जब-जब तुम्हें जीवन में संकट और दुःखों ने घेरा, तब-तब मैं तुम्हें अपनी गोद में उठा लिया करता था।'' विश्वास वही भरोसा है कि यह तो प्रभु आपके साथ चलेंगे या आपकी विपदा के समय आपको अपनी गोद में उठा लेंगे।

आपका हृदय ही विश्वास का स्थान है। आप अपने विश्वास के एकमात्र निर्माता है। यह आपके भीतर उत्पन्न होता है। यह स्वयं रचित है। आपकी पाँच इंद्रियों से हो कर गुज़रने वाली कोई भी चीज़ आपके विश्वास को छू तक नहीं सकती क्योंकि आपकी इन इंद्रियों के पास हृदय तक पहुँचने की क्षमता नहीं है। विश्वास तो सभी इंद्रिय बोधों से परे है। यह आँकड़ों के विश्लेषण का परिणाम तथा प्रभाव नहीं है। अनुभव विश्वास की पुष्टि करते हैं; वे विश्वास उत्पन्न करने का कारण नहीं बनते। विश्वास कोई अनुक्रम नहीं है। आप इसमें स्वयं को स्नातक नहीं करते। यह तो एक क्षण में घटता है। यह एक आविर्भाव है। यह एक सटोरी है। यह तो चेतना का अकस्मात् प्रकट होने वाला क्षण है।

विश्वास या आस्था हृदय की बुद्धिमत्ता है, जबकि विचार का संबंध मस्तिष्क से है। हृदय कोई प्रमाण नहीं चाहता। मन कभी पर्याप्त प्रमाणों से भी संतुष्ट नहीं होता। हृदय प्रत्येक प्रकार के अनुभव का प्रयोग करते हुए, अपने विश्वास व आस्था को बल प्रदान करने की चेष्टा करता है। मन प्रत्येक अनुभव की मदद से, अपनी मान्यता या विचार का बुनियाद को दुर्बल बनाने की चेष्ट करता है। विश्वास समय के साथ-साथ बढ़ता है। विचार या भावना समय के साथ दुर्बल होती जाती है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति विश्वास पर विश्वास नहीं रख सकता। यह भी पूरी तरह से सत्य है कि कोई भी पूरी तरह से अपनी मान्यताओं व विचारों पर विश्वास नहीं कर सकता।

विश्वास विज्ञान-विरोधी नहीं है, यह केवल विज्ञान की समझ से परे है। प्रत्येक यात्रा, प्रत्येक पथ, प्रत्येक मार्ग का आरंभ, यह विश्वास ही है, यह विश्वास कि हम एक दिन पहुँचेंगे, हम लक्ष्य तक जाएँगे और हम सफल होंगे। विश्वास या आस्था यह भरोसा करने की योग्यता है, जिसे अभी आप अपने नेत्रों से देख नहीं पाते, उस पर भरोसा करने की योग्यता है, जो अभी है ही नहीं, उसे 'सत्य के रूप में स्वीकार' करने की योग्यता है, जिसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जिसे आप अपने नेत्रों से देख नहीं सकते, यदि विश्वास उसी भरोसे का नाम है, तो एक दिन आपको विश्वास का पुरस्कार यह मिलेगा कि आप उसे देख सकेंगे, जिस पर आप सदा विश्वास करते आए थे। भले ही यह आस्था और विश्वास हमारी समझ और बुद्धि से कहीं परे हों, परंतु विश्वास के परिणाम तो हम सभी देख ही सकते हैं।

एक बार, हनुमान ने राम से कहा, ''हे प्रभु! कुछ ऐसा है, जो आपसे भी सर्वोच्च पद पर आसीन है।'' राम ने आश्चर्य से पूछा, ''हे हनुमान! ऐसा क्या जो मुझसे भी सर्वोच्च है ?'' हनुमान ने उत्तर दिया, ''हे प्रभु! आपने तो नाव से नदी पार की है परंतु मैंने तो आपके नाम की शक्ति व बल की सहायता से सागर लाँघा है। वे पत्थर पानी पर तैरने लगे, जिन पर आपका नाम लिखा गया था। इस प्रकार, वास्तव में आपका नाम आपसे कहीं अधिक महान् और सर्वोच्च पद पर है।''

'विश्वास की वस्तु' नहीं, 'विश्वास' और आस्था हमारे लिए चमत्कार उत्पन्न करती है। विश्वास की वस्तु तो एक संयोग है। यह जीसस के लिए 'आबा'; मदर टेरेसा के लिए 'जीसस'; द्रोपदी के लिए 'कृष्ण'; हज़रत के लिए 'अल्लाह';

एकलव्य के लिए 'द्रोण'; हनुमान के लिए 'राम'; और हनुमान के अनेक भक्तों के लिए 'हनुमान' है। उन सभी ने अपने जीवन में विश्वास की चमत्कारिक शक्ति का अनुभव किया, जो यह प्रमाणित करती है कि 'विश्वास की वस्तु' नहीं, बल्कि उस 'वस्तु में विश्वास' के कारण ही चमत्कार घटते हैं।

विश्वास मनुष्य के सीमित मन द्वारा उत्पन्न साधारण विचार स्पंदन को एक आध्यात्मिक भाव के विचार में बदलता है। विश्वास ही एकमात्र ऐसा प्रवेश द्वार है, असीम प्रज्ञा के ब्रह्माण्डीय बल को मनुष्य के द्वारा सँवारा जा सकता है और प्रयोग में लाया जा सकता है। जिस प्रकार मन से उत्पन्न होने वाले विचार, मन से कहीं अधिक शक्तिशाली होते हैं, उसी प्रकार विश्वास भी उस 'वस्तु' से कहीं अधिक संभावनाओं से भरपूर होता है, जिसके प्रति उसे निर्देशित किया जाता है।

हालाँकि, मनुष्य ने परख़ने में भारी भूल की है। जब भी वह उस विश्वास या श्रद्धा से उत्पन्न किसी चमत्कार का अनुभव करता है, तो वह उस विश्वास की वस्तु को ही सारा श्रेय दे देता है, उसे एहसास ही नहीं होता कि उस वस्तु में विश्वास के कारण ही उसे चमत्कारों का अनुभव हो रहा है। अपनी परखने की इसी भूल के कारण ही, वह अपनी उस 'विश्वास की वस्तु' को प्रसन्न रखने के लिए अनुष्ठान, चढ़ावा, प्रसाद, भोग और बलि आदि जाने क्या-क्या नहीं करता। वह समय-समय पर अपने विश्वास की वस्तु को बदलता भी रहता है; उसे एक से दूसरे ईश्वर की ओर स्थानांतरित करता रहता है...वह बार-बार अपने विश्वास के केंद्र को बदलता है। यहाँ यह प्रश्न महत्त्व नहीं रखता कि आपका 'ईश्वर' कितना बलशाली है... प्रश्न यह महत्त्वपूर्ण है कि अपने प्रभु के प्रति आपके 'विश्वास' में कितना बल है ? आप उस वस्तु में जो भी विश्वास रखेंगे, उसी विश्वास के बल से, आपके विश्वास की वस्तु बलशाली होगी। यहाँ विश्वास व श्रद्धा के लिए बालक का रूपक दिया जा सकता है। वह सड़क पार करते हुए अपने माता-पिता की अँगुली थामे रहता है। एक क़दम आगे चलता है, कभी साथ भागता है, कई बार ठहरता है, कई बार क़दम पीछे लेता है परंतु अंततः उसी अँगुली का आश्रय ले कर, सड़क पार कर ही लेता है। विश्वास के भरोसे से तो सब कुछ काम करने लगता है। विश्वास के अभाव में, कुछ भी कार्य नहीं करता। अगर विश्वास न हुआ तो आप भयभीत होते हैं। विश्वास के साथ भय का कोई काम नहीं रहता। विश्वास

तथा भय का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता जैसे एक गहन अंग्रेजी कहावत में कहा गया है : ''एक बार भय ने दरवाज़ा खटखटाया तो विश्वास ने उत्तर दिया, यहाँ कोई नहीं रहता।'' विश्वास को अपने भीतर स्थान दें और भय को धकिया कर बाहर निकाल दें।

चुनाव मनुष्य की बुद्धिमत्ता से तथा परिणाम उसकी बुद्धिमत्ता से जन्म पाते हैं। विश्वास इस ज्ञान पर आधारित है कि उसकी बुद्धिमत्ता सदैव उसका साथ देगी। विश्वास इस ज्ञान पर आधारित है कि हो सकता है कि कभी-कभी आपकी योजनाओं को ध्वस्त कर दिया जाए, ताकि वह आपके लिए अपनी योजनाओं को कार्यरूप दे सके और उसकी योजनाएँ आपके लिए सदैव उचित ही होती हैं। यही कारण है कि किसी वस्तु पर विश्वास होने से, आप ऐसा नहीं पूछते, ''मेरे साथ ही यह सब क्यों हो रहा है ?'' आप पूरे भरोसे के साथ पूछते हैं, ''हे प्रभु! मुझे इन सब बातों में डाल कर किस घटना के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं ? हे प्रभु! ऐसी कौन सी बड़ी तसवीर है, जिसे मैं अभी तक नहीं देख सका, अभी तक नहीं समझ सका ?'' जो शक्ति आपको उस विपदा के भीतर ले गई है, वही आपको उससे उबरने में भी सहायक होगी।

जब दुःख पीछे की ओर देखता है, चिंता आसपास निहारती है, तो विश्वास व श्रद्धा सदा ऊपर की ओर देखते हैं। विश्वास ही उस शक्ति के साथ आपके संबंध की आधारशिला है...वह शक्ति जो ऊपर है...वह शक्ति जो सबसे परे है...वह शक्ति जो आपके भीतर समाई है।

नन्हे बालकों की तरह अपने संपूर्ण विश्वास के साथ उस भविष्य और अज्ञात में छलांग लगाने को प्रस्तुत हो जाइए, जो आपके लिए प्रतीक्षा कर रहा है।

मेरी आयु इस समय चालीस वर्ष है। मैं एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार से हूँ। तथा आपको लगता है कि मैं अब भी अपने शेष जीवन में ऐसा कुछ कर सकता हूँ कि मुझे एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति के रूप में नहीं मरना पड़े ?

सबसे पहले तो आपको यह बात पता होनी चाहिए कि चालीस वर्ष की आयु होने के बाद भी, यह संभव है कि अभी आपके पास पचास प्रतिशत जीवन शेष हो। यह जीवन कम तो नहीं होता। यह भी समझ लें, चालीस साल की आयु तक आते-आते, आप इस विषय में अधिक परिपक्व हो गए हैं कि आपको शेष

चालीस वर्ष कैसे बिताने चाहिए, जब आप उन्हें बीते वर्षों की तुलना में कहीं बेहतर तरीक़े से बिताने का उपाय जान गए होंगे। आपकी आयु से आपके सेवानिवृत्त होने का बहाना नहीं बनता। आयु तो पूरी तरह से मन की एक अवस्था है; इसे आप किसी भौतिक रूप से आने वाले क्रमशः अंक के रूप में न लें। आप अपने-आप को जितना युवा मानते हैं, आप उतने ही युवा हैं। भले ही हमारा अतीत ही शानदार रहा हो या न रहा हो, हम अब भी अपने लिए एक शानदार भविष्य गढ़ सकते हैं। तो पहले, अपने जीवन को देखें, जीवन की ओर निहारें।

गैस के गुब्बारे के बाहर नहीं, बल्कि उसके भीतर की गैस उसे आसमान में ले जाती है और सभी गुब्बारे एक ही पदार्थ से बनाए जाते हैं। किसी व्यक्ति का बाहरी आवरण नहीं बल्कि उसकी आंतरिकता उसे शीर्ष तक ले जाती है और सभी मनुष्य एक ही पदार्थ के बने होते हैं। यदि हम सभी एक ही पदार्थ से बने हैं, तो ऐसा क्यों है कि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में जो अर्जित कर सकता है, दूसरा ऐसा नहीं कर सकेगा।

धरती के भीतर कहीं गहराई तक, स्वर्ण और चट्टानें दबी है। जब तक वे धरती के भीतर दबी रहेंगी, उनके मूल्यों में कोई अंतर नहीं आएगा। जब उन्हें धरती के भीतर से निकाला जाएगा तो सोने की कीमत उन चट्टानों से अधिक होगी। ठीक इसी प्रकार, जब तक किसी की प्रतिभा सुप्तावस्था में है, तब तक दोनों में आपस में कोई अंतर नहीं है। यदि कोई महान् हस्ती हो तो यह संभावना सामने आती है। अन्यथा यह सुप्त अवस्था में ही रह जाती है। हम सभी जागृत अवस्था में ही जन्मे थे, परंतु हम गहन निद्रा में लीन हो चुके हैं।

छह वर्षों की कठिन व सुदीर्घ तपस्या के बार सिद्धार्थ, गौतम बुद्ध बने। यह सब एक क्षण में घटित हुआ। उनके जीवन के तीस वर्षों में, एक दिन ऐसा हुआ; ईसा मसीह के जीवन के चालीस वर्षों में एक दिन ऐसा हुआ, ऐसा ही हज़रत मुहम्मद के साथ हुआ। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ एक दिन तीस वर्ष की आयु में नींद से जगे और स्वयं को संप्रेषण के भय से मुक्त कर दिया और कर्नल सैंडर्स को पैंसठ वर्ष की आयु में अपनी बिलियन डॉलर' बहुराष्ट्रीय रेस्तराँ शृंखला खोलने का विचार आया। यह सब एक दिन और एक ही क्षण में ही घटित होता है।

उस एक सुबह, वे एक स्कूल की अध्यापिका थी। परंतु एक इंसान की मौत ने, बीज बोया और मदर टेरेसा का जन्म हुआ। उस एक सुबह, वे एक बैरिस्टर थे। परंतु एक प्लेटफॉर्म पर गाड़ी से धकेले जाने पर, बीज बोया गया और महात्मा गाँधी का जन्म हुआ। प्रत्येक सुबह दिखने में तो एक सी ही होती है, परंतु ऐसा होता नहीं है। अरबों-खरबों ज्ञात-अज्ञात व अज्ञेय बल, आपके जीवन के इस क्षण पर कार्य कर रहे हैं। गहन सजगता के साथ आपके स्व की इनमें उपस्थिति ही सबसे अधिक मायने रखती है। आप नहीं जानते कि कौन सा दिन, आप नहीं जानते कि कौन सा क्षण। यह यही क्षण हो सकता है; यह अगला क्षण भी हो सकता है, यह अब से एक दशक बाद भी हो सकता है...परंतु यह सब एक दिन घटेगा और एक ही क्षण में घटित होगा- और यह आपके साथ भी हो सकता है। सजगता के अभाव में, जब यह आपके पास होगा तो आप इसे जान नहीं सकेंगे और यह निःशब्द आपके पास से निकल जाएगा। साधारण व्यक्ति इसे जान नहीं पाते और हस्तियाँ इसे पहचान कर अंगीकार कर लेती है। जीवन के प्रत्येक क्षण में एक छिपा अर्थ होता है। हमें क्षण प्रतिक्षण, इसके अर्थ को सामने लाने की सजगता व चेतना के साथ, अपने जीवन को जीना चाहिए।

पूरे विश्वास के साथ प्रतीक्षा करें...निश्चित रूप से आपका क्षण आएगा। जीवन शाश्वत है परंतु जीवन का प्रकटीकरण सदा अस्थायी व क्षणिक है। जीवन के प्रत्येक क्षण में आप शाश्वत की संभावना तथा सार को पा सकते हैं। यदि आप उन क्षणों को चूक गए तो जान लें कि आप जीवन से भी चूक गए। पूरी योग्यता के साथ प्रत्युत्तर देने से ही उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। किसी मनुष्य के जीवन में प्रत्येक नया मोड़, मनुष्य की उस योग्यता से जन्म पाता है, जिसमें वह जीवन के उस क्षण के प्रति अलग तरह से अपनी प्रतिक्रिया देता है। उस एक क्षण की प्रतीक्षा करें। यह सब एक ही क्षण में घटित होगा।

केवल एक विचार, केवल एक उपाय, एक अंतर्दृष्टि, एक प्रकटीकरण, एक अस्तित्वपरक मध्यस्थता, एक अनुभव, एक घटना या एक दुर्घटना...केवल उसकी ही आवश्यकता है। उस एक क्षण की सजगता के साथ प्रतीक्षा करें। जीवन का प्रत्येक क्षण, संपूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ सामंजस्य में है। जब मैं सजग भाव से वर्तमान में उपस्थित नहीं होता, मैं न केवल स्वयं को उस क्षण के सामंजस्य से

काट देता हूँ बल्कि पूरे ब्रह्माण्ड से भी अलग कर देता हूँ। यदि हमने अपने जीवन को परिभाषित करने वाले क्षणों का सामना नहीं किया, तो ऐसा इसलिए नहीं है कि अस्तित्व हमारे विरुद्ध है परंतु जीवन के इन क्षणों के प्रति हमारी सजगता आंशिक है, वह संपूर्ण नहीं है। जीवन की जड़ों को थामने का प्रयत्न करो। जीवन की इकाई को थामने का प्रयास करो। जीवन के उन 'क्षणों' को थामने का प्रयत्न करो।

क्या आपने नहीं पढ़ा- भाग्य, आपके पास से निकल रहे सभी अवसरों तथा आपके द्वारा उन्हें लपकने की सजगता का संयोग बिंदु है ? लीजिए आपके सामने दूसरा अवसर आ गया। इसे झट से लपक लीजिए।

जीवन के प्रत्येक क्षण में एक छिपा अर्थ होता है। हमें क्षण-प्रतिक्षण इसके अर्थ को सामने लाने की सजगता व चेतना के साथ अपने जीवन को जीना चाहिए। - ***महात्रया रा***

आत्मा के स्वभाव धर्म तो आत्मा के विभाव अधर्म
(आत्मा के गुणों का हनन ही महान् हिंसा (पाप, अपराध)
(भाव हिंसा (पाप, अपराध) बिन बाह्य पाप भी नहीं होते)

(चाल:- 1. आत्मशक्ति....2. क्या मिलिए....) **- आचार्य कनकनन्दी**

केवल बाह्य पाप करना ही नहीं है महान् पाप/(महा अपराध)।
आत्मा के गुणों का हनन करना सबसे महान् पाप।।
'वस्तु स्वभाव धर्म' होने से आत्मा के स्वभाव हैं धर्म।
इससे विपरीत होते हैं अधर्म जो होते आत्मा के विभाव।। (1)

'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र' होते है आत्मा के धर्म।
इससे विपरीत 'मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र' होते अधर्म।।
आत्म श्रद्धान धर्म होता है तो आत्मअश्रद्धान होता अधर्म।
आत्मज्ञान धर्म होता है तो आत्मज्ञान न होना अधर्म।। (2)

आत्मस्वभाव अनुसार आचरण धर्म तो इससे विपरीत अधर्म।
उत्तमक्षमादि आत्मधर्म तो इससे विपरीत होते अधर्म।।
क्षमामार्दवआर्जवशौचसत्यसंयमतपत्यागब्रह्मआकिंचन्य।
ये आत्मा के स्वभाव होने से धर्म तो इनसे विपरीत अधर्म।। (3)

अतएव क्रोध मानमायालोभ व असत्य असंयमतृष्णा अत्याग।
अब्रह्मचर्य व ममकार-अहंकार होते हैं अधर्म।।
इन सब अधर्म से युक्त जीव बाह्य हिंसादि बिना भी अधर्मी।
इन सब अधर्म से रहित जीव बाह्य हिंसादि से भी सुधर्मी।। (4)

इन सबके उदाहरण हैं महामत्स्य व तंदुलमत्स्य।
श्रेणी आरोहण महामुनि व निगोदिया जीव भाव कलंकित।।
भले संविधान कानून व सामाजिक नीति-नियम।
जिसे मानते हैं निर्दोष वे भी हो सकते हैं दोषी महान्।। (5)

संविधानादि मान्य भी फैशन-व्यसन व वधशाला।
मद्य तम्बाकू आदि नशीली वस्तु उत्पादन क्रय-विक्रय व सेवन।।
अन्य को क्षति पहुँचायें बिना भी कोई हो सकता है अधर्मी।
यथा क्रोधी-मानी-मायाचारी लोभी ईर्ष्यातृष्णावान् अधर्मी।। (6)

अनुदार व क्रूर-कठोर-आत्मश्रद्धान रहित कुज्ञानी।
अन्य को कष्ट दिये बिना भी होते हैं महाअधर्मी।।
तथाहि आलस्य-प्रमादयुक्त भोगविलासी कामी।
खोटे भाव-लक्ष्य-विचार युक्त होते हैं सभी अधर्मी।। (7)

ये हैं 'आध्यात्मिक' 'कर्म सिद्धान्त' जिसे न जानते मोही मूढ।
सर्वज्ञद्वारा प्रतिपादित सत्य 'कनक' को मान्य यह सत्य।। (8)

(यह कविता क्षु.सुवीक्षमती माताजी के कारण बनी।)
नन्दौड़ दि.15.11.2018 रात्रि 08:02

सन्दर्भ-

विकहा तहा कसाया, इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।

चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्ण रसा।।
अथ प्रमादावस्थायां एव हिंसा प्रवर्तनं इत्यर्थः।

The want of abstinence from Himsa and indulgence , in Himsa both constitute Himsa; and thus whenever there is careless activity of mind body or speech, there always injury to vitalities.

व्याख्या-भावानुवाद- हिंसा से प्रतिज्ञापूर्वक विरक्त नहीं होना भी हिंसा ही है। जीव वध से अविरमण हिंसा होती है। हिंसा का परिणाम भी हिंसा ही है। मानसिक हिंसात्मक परिणाम ही हिंसा है। इसलिए प्रमत्त योग से प्राण व्यपरोपण (भाव हिंसा) अवश्य होता है। गोम्मट्टसार में पंद्रह प्रकार के प्रमादों का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

चार प्रकार के विकथा, चार प्रकार के कषाय, पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ, एक निद्रा तथा एक प्रणय इस प्रकार प्रमाद पंद्रह प्रकार के हैं।

हिंसा के निमित्तों को हटाना चाहिए

सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा परवस्तु-निबंधना भवति पुंसः।
हिंसाऽऽयतन-निवृत्तिः परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या।। (49)।। पु.उ.

A more conduct with external objects, will not make a person guilty of Himsa.Even then for the purifi cation of thought, the ought to aviod external causes leading to Himsa.

व्याख्या-भावानुवाद :- परवस्तु के सम्बन्ध से मनुष्य को सूक्ष्म भी हिंसा नहीं लगती है। निश्चय से परपदार्थ के कारण सूक्ष्म जीव वध का पाप भी जीव को नहीं लगता है। हिंसा आत्मपरिणाम से जनित होती है इसलिये हिंसा आत्मनिष्ट है। इसलिये आत्मपरिणाम की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतन स्वरूप छुरी, अस्त्र, शस्त्र, सूक्ष्म जीवों से युक्त स्थान का भी त्याग करना चाहिये। अस्त्रादि धारण करने से आत्मस्वभाव में मलिनता आती है। अतः शास्त्रों के समूह को त्याग करके यत्नपूर्वक विचरण करने से आत्म परिणाम में निर्मलता आती है।

अनिश्चयज्ञ का निश्चय के आश्रय से चारित्र घाती

निश्चयमुबुद्ध्यमानो यो निश्चय तस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः।। (50)।।

He, who, ingorant of the real point of view, takes shelter therein in practive, is a foot, and being in different to external conduct, he destroy all Practical discipline.

व्याख्या-भावानुवाद :- जो निश्चय को नहीं जानकर निश्चय से उसका ही आश्रय लेता है ऐसा मूर्ख निश्चय से क्रिया रूप चारित्र को अर्थात् व्यवहार चारित्र का नाश कर देता है। आचार्य श्री ने उसे मूर्ख, आलसी कहा है जो निश्चय व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग को नहीं जानकर बाह्य चारित्र का पालन करने में प्रमादी होकर एकान्ततः निश्चय का ही आश्रय लेता है, मानता है। ऐसा व्यक्ति श्रावक चारित्र एवं मुनि चारित्र रूपी व्यवहार चारित्र का नाश करता है, लोप करता है।

अहिंसक भी हिंसक एवं हिंसक भी अहिंसक

अविधायाऽपि हि हिंसा हिंसा-फल-भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाऽप्यपरोहिंसां हिंसाफल-भाजनं न स्यात्।। (51)।।

एकःही निश्चितं हिंसा अविधायाऽपि हिंसा-फल-भाजनं भवति। एकः पुमान् हि इति निश्चितं हिंसा अविधायापि जीव-वधं अकृत्वापि हिंसाफलभाजनं भवति। हिंसायाः फलं दुःख-दुर्भगेष्ट-वियोगत्व-रोगादि तस्य भाजनं पात्रं एकः मिथ्यात्ववान् भवति। किंवत् जाल-ग्रन्थक-धीवरवत्। यथा जालग्रन्थकधीवरः अशुभ-परिणामत्वात् पापभाग् भवति। अपरःहिंसा कृत्वापि हिंसा फलभाजनं न भवति। अपरः ज्ञानवान् प्रमादात् कायचापल्यात् हिंसा कृत्वापि हिंसाफलभाजनं न भवति। हिंसाफलस्य भाजनं पात्रं न भवति। किंवत् कृषीबलवत्। यथा कर्षकः निघ्नन्नापि हिंसाफल भुग् न स्यात्। परिणतेः निर्मलत्वात्। अतः परिणाम-प्रधान्यत्वं कथितम्।

One who does not actully commit Himsa, he comes responsible for the consequences of Himsa and another who actully commits Himsa, would not be liable for the fruit of Himsa.

व्याख्या-भावानुवाद :- एक जीव निश्चय से जीव वधादि रूप हिंसा को नहीं करता हुआ भी हिंसा के फल को भोगता है। हिंसा के फलस्वरूप दुःख, दुर्भाग्य इष्ट वियोग, रोगादि को मिथ्यादृष्टि/भाव हिंसक जीव भोगता है। जिस प्रकार जाल बनाने वाले धीवर मछली को बिना पकड़े ही अशुभ परिणाम से पाप का

भागी बन जाता है। अन्य ज्ञानवान् काय संचालन आदि हिंसा करता हुआ भी हिंसा के फल को नहीं भोगता है। जिस प्रकार कृषक कृषि कार्य करते हुए अनेक जीवों का हनन करता हुआ भी हिंसा के फल को नहीं भोगता है क्योंकि उसका परिणाम निर्मल होता है। इसलिये हिंसा और अहिंसा में परिणाम की प्राधान्यता रहती है।

अल्प हिंसा भी बड़ा पाप एवं बड़ी हिंसा भी अल्प पाप

एकस्याऽल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्प-फला भवति परिपाके।। (52)।।

एकस्याल्पा हिंसा कालेऽनल्पफलं ददाति। एकस्य अतत्त्वार्थविदस्य पुरुषस्याल्पा हिंसा अल्पवधरूपा काले अनल्पं फलं ददाति। बहु फलं ददाति। मनसः विकल्पानांतीव्रतरत्वात् सिकलीगरवत् अन्यस्य महाहिंसा परिपाकेस्वल्पफला भवति। अन्यस्य तत्त्वार्थविदस्य पुरुषस्य महाहिंसा परिपाके उदये स्वल्पफला भवति। स्वल्पं फलं यस्याः सा स्वल्पफला अल्पफला भवति। भावार्थोऽयम्। फलपाक समये मनसः परिणामानां निर्मलत्वात् सर्वत्र परिणामानां शुभाशुभानां कारणात्। अस्पफला भवति। किंवत्। संग्रामे स्वामि-भक्त पुरुषवत्।

To one, trifing Himsam brings in time serious result; to another grievous Himsa at time of fruition causes small consequence.

व्याख्या-भावानुवाद - जो तत्त्वार्थ को सही रूप से नहीं समझता है ऐसे पुरुष की अल्प हिंसा भी काल प्राप्त करके बहुफल को देती है। क्योंकि उसका मानसिक विकल्प अति तीव्र होता है। अन्य तत्त्वार्थ को जानने वाले पुरुष की महाहिंसा भी उदयकाल में कम फल देती है। क्योंकि उसका परिणाम फलपाक के समय में निर्मल होती है। क्योंकि सर्वत्र परिणाम ही शुभ एवं अशुभ को देने के लिए कारण बनता है। जिस प्रकार राजा के आदेश से सैनिक युद्ध करते हैं, हिंसा करते हैं तथापि उसको हिंसा का फल कम मिलता है। सैनिक तीव्र कषाय परिणाम के बिना यदि राष्ट्र के लिए युद्ध करता है तो उसको हिंसा का फल कम लगता है।

एक हिंसा एक के लिये तीव्र तथा एक के लिये मंद

एकस्यैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारणैरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले।। (53)।।

Even when jointly commited by two persons the same Himsa at the time to fruition, curiously enough, causes servre retribution to one, and a mild one to another.

व्याख्या-भावानुवाद :- वही एक हिंसा मिथ्यात्व सहित जीव के लिए तीव्र दुस्सह दुःख को देती है। अन्य ज्ञानी के लिए वहीं हिंसा कम फल देती है। यहाँ पर सहकारी कारण से हिंसा विचित्र फल को देती है। बाह्य हिंसा एक होते हुए भी मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी, कषायवान् जीव की हिंसा अन्तरंग उन सहकारी परिणाम के कारण तीव्र फल को देती है। अन्य एक सम्यक्दृष्टि, ज्ञानी मन्द कषायी निर्मल परिणामी जीव की वही हिंसा कम फल को देती है हिंसा काल में विचित्रता परिणाम की विचित्रता से आती है।

रत्नत्रय कर्मबंध का कारण नहीं है

असमग्रं भावतयो, रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धोयः।
स विपक्षाकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न बंधनोपायः।। (211)।।

Even when Ratna Traya is partially followed, whether hondage of Karma there is, due to its Antithesis (The passion) because Ratna-Traya is assuredly the way to liberation, and can never be the cause of bondage.

व्याख्या-भावानुवाद :- अपरिपूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना/ परिपालन से जो कर्मबंध होता है वह कर्मबंध रत्त्रय से न होकर विपक्षभूत राग द्वेष से होता है। अपरिपूर्ण रत्नत्रय से कर्मबंध होता है। जितने अंश में रत्नत्रय है उतने अंश में कर्मबंध नहीं होता है और उतने अंश मोक्ष के उपाय हैं। जितने अंश में रत्नत्रय का अभाव है और राग-द्वेष का सद्भाव है उतने अंश में कर्मबंध होता है जो मोक्ष के लिये कारण नहीं है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं है असर्वदेशी रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण होता है। निश्चय रत्नत्रय कर्मबंध के लिये कारण नहीं होता है।

रत्नत्रय और राग का फल

येनांऽशेन सुदृष्टिस्तेनाऽशेनाऽस्य बंधनं नाऽस्ति।
येनांऽशेन तु राग स्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (212)।।
येनांऽशेन तु ज्ञानं, तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं नास्ति।
येनांऽशेन तु रागस्तेनांऽशेनाऽस्य बंधनं भवति।। (213)।।
येनांऽशेन चारित्रं, तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनाशेनं तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति।। (214)।।

(In every thought activity) there is no bondage so far as there is right belief; there is b bondage so far as there is knowledge; there is bondage so far as there is passion. (In every thought actibity) there is no bondage so far there is conduct; there is bondabe so far as there is passion.

व्याख्या-भावानुवाद :- जिस अंश से सुदृष्टि होता है उस अंश से सम्यक् दर्शन होता है। उस सुदृष्टि रूप अंश से उस सम्यक्त्व का कर्मबन्ध नहीं होता है। किन्तु जिस अंश से उस सम्यक् दृष्टि में भी राग होता है उस अंश से उस सम्यक् दृष्टि को भी कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से ज्ञान होता है उस अंश से कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस ज्ञानी को कर्मबन्ध होता है।

जिस अंश से चारित्र होता है उस चारित्र अंश से कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जिस अंश से राग होता है उस अंश से उस चारित्र या चारित्रधारी को कर्मबन्ध होता है।

इसका भावार्थ यह है कि सराग रत्नत्रय में बन्ध होता है। वीतराग रत्नत्रय में बन्ध नहीं होता है।

समीक्षा- जैसे जिस अंश में प्रकाश होता है उस अंश में अन्धकार नहीं होता है तथा जिस अंश में अंधकार होता है उस अंश में प्रकाश नहीं होता है। प्रकाश जितने-जितने अंश में बढ़ता जाता है उसने उतने अंश में अन्धकार भी घटता जाता है। जितने जितने अंश में अन्धकार बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में प्रकाश घटता जाता है। इसी प्रकार जितने-जितने अंश में रत्नत्रयात्मक स्वभाव

आत्मा में प्रकट होता है उतने-उतने अंश में वैभाविक भावरूपी कर्मबन्ध घटता जाता है। आचार्य उमास्वामी ने पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से इसी विषय को निम्न प्रकार से कहा है-

सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अनन्तानुबन्धिविसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती तब तक आस्रव और बंध की परम्परा चलती रहती है। वह बंध की परम्परा मिथ्यादृष्टि की अनादि से हैं। उसकी जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि केवल आस्रव और बन्ध तत्त्व का कर्त्ता है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव के ज्ञान एवं दर्शन में परिवर्तन हो जाता है। जिस अंश में दर्शन ज्ञान चारित्र में सम्यक् भाव है उतने अंश में संवर, निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र आत्मा का स्वभाव है।

पात्र की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा और उसके द्रव्य प्रमाण और काल प्रमाण का वर्णन गोम्मटसार में निम्न प्रकार किया है :-

सम्मत्तुप्पत्तीये-सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य अवसंते।। (66)।।
खवगे य खीणमोहे- जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति।। (67)।।

सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाला 8-9-10 वें गुणस्थानवासी जीव, क्षीण मोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली दोनों प्रकार के जिन इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी अधिक होती जाती है। और उसका काल इसके विपरीत है अर्थात् क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है।

सम्यग्दृष्टि (अविरत) :- जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे-ऊँघते-

ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है या विष मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एक देश वेग कम होने पर चेतना आती हैं अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रिय में बार-बार जन्म-मरण परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। कभी मुनिराज कथित जिन धर्म को सुनता है तथा कदाचित प्रतिबन्धी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है जैसे कतक फल के सम्पर्क से जल का कीचड़ बैठ जाता है और जल निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अति मलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्म निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रथम सम्यक्त्वादि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसों स्थान क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा वाले हैं। सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करणलब्धि को प्राप्त करके उसके अधःप्रवृत्तकरण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्व दशा में होने वाली या पाई जाने वाली निर्जरा से असंख्यात गुणा अधिक हुआ करती है।

यह कथन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड की अपेक्षा से है। इसी से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा होती है उस निर्जरा को यहाँ पर ईकाई रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र की अपेक्षा निर्जरा के स्थान दस हैं और गोम्मट्टसार की अपेक्षा निर्जरा के स्थान ग्यारह है परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में जो अन्तिम स्थान 'जिन है उसे सयोगी जिन रूप में विभक्त करने से तत्त्वार्थसूत्र में भी ग्यारह स्थान हो जाते हैं।

श्रावक (पञ्चम गुणस्थान) अवस्था प्राप्त होने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है वह असंयत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यातगुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जरा का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन-हीन होता गया है अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि

की निर्जरा में जितना काल लगता है उससे संख्यात गुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा करता है। इसी प्रकार आगे के विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन-हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यागुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है। उन स्थानों में गुण श्रेणी निर्जरा कही जाती है।

बंध का कारण

योगात्प्रदेश बंधः स्थिति बंधो भवति तु कषायात्।
दर्शन बोध-चारित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च।। (215)।।
''प्रकृतिः परिणामःस्यात् स्थितिःकालाऽवधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयो, प्रदेशो दल-संचयः।''

Pradesha Bandha, bondage of Karmic molecules is due to soul's vibratory actibity, and shiti Bandha, duration bondage, is due to passions.But Right belief, knowledge and conduct have neither the nature of vibration nor of passionns.

व्याख्या-भावानुवाद- मन वचन-काय योग से प्रदेश बंध होता है। क्रोधादि कषाय से स्थिति बंध होता है। योग से प्रकृति, प्रदेश बंध जीव करता है। स्थिति अनुभाग बंध कषाय से जीव करता है। कहा भी है-

परिणाम अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। स्थिति, काल की अवधारणा को अर्थात् मर्यादा को स्थिति कहते हैं। इस अर्थात् शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कर्म परमाणु समूह के संचय को प्रदेश कहते हैं।

योग तथा कषायों के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट भेद से बंध में भी विचित्रता जाननी चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यगचारित्र ना योग रूप है न कषाय रूप है। योग तथा कषाय स्वरूप भिन्न है तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का स्वरूप भिन्न है। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र में योग तथा कषाय नहीं होता है इसलिए रत्नत्रय से कर्मबंध नहीं होता है।

रत्नत्रय से बंध क्यों नहीं होता ?

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्म-परिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।। (216)।।

Right beleif is conviction in one's own self, knowledge is a knowlege of one's own self; conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these.

व्याख्या भावानुवाद :- दर्शन बोध, चारित्र से कर्मबंध नहीं होता है ऐसा कहा गया है। यह किस प्रकार है ? ऐसा प्रश्न करने पर दर्शन आदि का स्वरूप बता रहे हैं।

आत्मा की विनिश्चिति/प्रतीति/श्रद्धा सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् आत्मा के निश्चय स्वभाव का दर्शन सम्यक्त्व होता है। आत्मा का समग्रता से परिज्ञान/चिन्तन/बोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में ही स्थिर हो जाना, उसमें रमण करना चारित्र है। ये तीनों आत्मा के स्वभाव होने के कारण इससे कर्मबंध किस प्रकार होगा ? अर्थात् यह आत्मा का स्वभाव होने से स्वभाव में बंध नहीं होता है। किन्तु विभाव में बंध होता है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियों का बंधक नहीं

सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां, तीर्थंकराऽऽहार-कर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये, न नयविदां सोऽपि दोषाय।।(217)।।

Wheatevery, bondage of Tirthankar Karma, or Abaraka karma, has been described in the scripture as due to right belief and conduct, would not appear to be a mistake to those who are learned in the points of view.

व्याख्या-भावानुवाद - शास्त्र में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर का बंधन सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ सिद्धान्त शास्त्र में वर्णन है कि अरिहन्त के लिये कारणभूत तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का बंध, आहारक नाम कर्म उदय के निमित्त आहारक शरीर प्रकृति का बंध, सम्यक्त्व और चारित्र से होता है। परन्तु यह बंध नय को जानने वालों के लिए दोष कारक नहीं है।

सत्यश्रद्धानी-आत्मज्ञानी व सदाचारी ही धार्मिक अन्यथा अधार्मिक

(चाल : छोटी-छोटी गैया) -आचार्य कनकनन्दी

'सत्य श्रद्धान' युक्त 'आत्मज्ञानी' व दोनों से युक्त 'सदाचारी'।
होते हैं यथार्थ से धर्मात्मा वे ही होते हैं मोक्षमार्गी।।
'सत्य श्रद्धान' से होता है 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' जो 'आत्म श्रद्धान' युक्त।
अष्टगुण व अष्टअंग युक्त देव-शास्त्र-गुरु श्रद्धा युक्त।। (1)

हठाग्रह दुराग्रह मिथ्याश्रद्धान-रिक्त सनम्रसत्यग्राही गुण सहित।
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ भाव युक्त ज्ञान-वैराग्य-शक्ति युक्त।।
फैशन-व्यसन व अष्टमद रहित, आत्मकल्याण लक्ष्य सहित।
नैतिक-सदाचार सहित, अन्याय-अत्याचार रहित।। (2)

इससे युक्त होता जो ज्ञान, वह होता है सम्यग्ज्ञान।
इससे होता है भेदविज्ञान, ''मैं हूँ चैतन्ययुक्त आनन्दघन''।।
इसे ही कहते हैं ''वीतराग विज्ञान'' जिससे होता है आत्मज्ञान।
''मैं हूँ द्रव्य- भाव-नोकर्म रहित'', ऐसा ज्ञान है 'भेद विज्ञान'।। (3)

आत्मश्रद्धान व भेद विज्ञान युक्त, जब होते हैं भव्य जीव।
तब ही होते हैं वे सम्यग्दृष्टि, तब से ही उनका धर्म प्रारंभ।।
स्व-शुद्धात्मा की प्राप्ति ही, उनका होता है परम लक्ष्य।
शक्ति होने पर वे बनते श्रमण, अन्यथा वे बनते श्रावक।। (4)

श्रावक वे बनते तब, पालन करते जब अणुव्रत।
अहिंसा-सत्य-अचौर्य-बह्मचर्य, व अपरिग्रह पालते यथायोग्य।।
दया-दान-सेवा-परोपकार करते, पालन करते बारह व्रत।
ग्यारह प्रतिमा भी पालन करते, श्रमण बनने हेतु उद्यत।। (5)

'आत्मशक्ति' की वृद्धि होने से, बनते वे मुमुक्षु श्रमण।
अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह, त्याग करके बनते निर्ग्रन्थ श्रमण।।
श्रमण बनकर समता-शान्ति, निस्पृहता से करते ध्यान।

ख्याति-पूजा-लाभ-सत्कार-पुरस्कार, वर्चस्व से परे आत्मलीन।। (6)

आत्म विशुद्धि से आत्मशक्ति बढ़े, जिससे करते वे ''श्रेणी आरोहण''
घाती नाश से जो अरिहन्त बनते, अघाती नाश से परिनिर्वाण।।
यह ही जीवों की शुद्ध अवस्था, यह ही जीवों की परमावस्था।
अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यादि, सहित शुद्ध-बुद्ध परमात्मा।। (7)

यह ही धर्म का फल है, इस हेतु ही धर्म सदा पालनीय।
यह ही मोक्षावस्था है, इसे प्राप्त करना ही 'कनक' का ध्येय।।

इससे विपरीत जीव हाते अधार्मिक, सत्य श्रद्धान ज्ञान चारित्र रिक्त।
भले वे करते हो बाह्य धार्मिक काम, उससे न मिले उनको मोक्ष (8)

नन्दौड़ दि. 16.11.2018 रात्रि 08:06
(यह कविता क्षु. सुवीक्षमती के कारण बनी।)

सन्दर्भ-

सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।। (3) रत्न.श्रा.)

सम्यग दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म के ईश्वर (तीर्थंकर देव) धर्म कहते हैं, और इनसे उलटे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं।

श्रद्धानं परमार्थनामाप्तगम तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम्।। (4)

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का तीन मूढता रहित, आठ अंग सहित, आठ मद रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

प्रणम्य सर्वविज्ञान महास्पदामुरुश्रियम्।
निधूर्तकाल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थ वार्तिकम्।। (तत्त्वार्थ)

सर्वविज्ञानमय, बाह्य-अभ्यन्तर लक्ष्मी के स्वामी और परमवीतराग श्रीमहावीर को प्रणाम करके तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ को कहता हूँ। (तत्त्वार्थवार्तिक)

उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्ग की प्राप्ति के पात्रभूत आत्मद्रव्य को ही मोक्ष

मार्ग के जानने की इच्छा होती है। जैसे आरोग्यलाभ करने वाली चिकित्सा के योग्य रोगी के रहने पर ही चिकित्सामार्ग की खोज की जाती है, उसी तरह आत्मद्रव्य की प्रसिद्धि होने पर मोक्षमार्ग के अन्वेषण का औचित्य सिद्ध होता है।

संसारी आत्मा के धर्म काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है अतः उसकी प्राप्ति के लिये मोक्षमार्ग का उपदेश करना ही चाहिए।

प्रश्न– जब मोक्ष अन्तिम, अनुपम, श्रेष्ठ और प्रधान पुरुषार्थ है तब उसी का उपदेश करना चाहिए न कि उसके मार्ग का ? उत्तर-मोक्षार्थी भव्यने मार्ग ही पूछा है अतः प्रश्नानुरूप मार्ग का ही उपदेश किया गया है। मोक्ष के सम्बन्ध में प्रायः सभी वादि एक मत है, सभी दुःखनिवृत्ति को मोक्ष मानते हैं, पर उसके मार्ग में विवाद है। जैसे विभिन्न दिशाओं से पटना जाने वाले यात्रियों को पटना नगर में विवाद नहीं होता किन्तु अपनी अपनी दिशा के अनुकूल मार्ग में विवाद होता है उसी तरह सर्वोच्च लक्ष्यभूतमोक्ष में वादियों को विवाद नहीं है किन्तु उसके मार्ग में विवाद है। कोई वादी ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मानते हैं तो कोई ज्ञान और विषयविरक्ति रूप वैराग्य से तथा कोई क्रिया से ही मोक्ष मानते हैं। क्रियावादियों का कथन है कि नित्यकर्म करने से ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है। फिर, प्रश्नकर्त्ता को यह बन्धन भी तो नहीं लगाया जा सकता कि 'आप मार्ग न पूछें, मोक्ष को पूछे', लोगों की रुचि विभिन्न प्रकार की होती है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप में वादियों की अनेक कल्पनाएँ हैं, यथा-बौद्ध रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के निरोध को मोक्ष कहते हैं, सांख्य प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होने पर शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को मोक्ष मानते हैं, नैयायिक बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार इन आत्मा के विशेष गुणों के उच्छेद को मोक्ष कहते हैं, फिर भी सभी वादी 'कर्मबन्धन का विनाश कर स्वरूपप्राप्ति' इस मोक्ष सामान्य में एकमत हैं। सभी वादियों को यह स्वीकार है कि मोक्ष अवस्था में कर्मबन्धन का समूल उच्छेद हो जाता है।

प्रश्न-मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता तब उसके मार्ग का ढूंढना व्यर्थ है ? उत्तर यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है। जैसे घटीयन्त्र (रहट) का घूमना उसके धुरेके घूमने से होता है और

धुरेका घूमना उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर। यदि बैल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जाने पर घटीयन्त्र का घूमना बन्द हो जाता है उसी तरह कर्मोदयरूपी बैल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसार रूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है। इस तरह साधारण अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्ग का अन्वेषण करते हैं। जिस प्रकार भावी सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है फिर भी आगम से उनका यथार्थ बोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष सिद्ध न होने के कारण मोक्ष का निषेध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धान्तविरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं।

यद्यपि बन्धपूर्वक मोक्ष होता है अतः पहिले बन्धकारणों का निर्देश करना उचित था फिर भी मोक्ष मार्ग का निर्देश आश्वासन के लिए किया है। जैसे जेल में पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धन के कारणों को सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है पर यदि उसे मुक्ति का उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धमुक्ति का प्रयास करता है उसी तरह अनादि कर्मबन्धनबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्ध के कारणों को सुनकर डर न जाये और मोक्ष के कारणों को सुनकर आश्वासन को प्राप्त हो इस उद्देश्य से मोक्षमार्ग का निर्देश सर्वप्रथम किया है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।।1

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का सुमेल रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग हैं।

कोई व्याख्याकार कहते हैं कि-मोक्ष के कारण के निर्देश द्वारा शास्त्रानुपूर्वी रचने के लिए तथा शिष्य की शक्ति के अनुसार सिद्धान्तप्रक्रिया बताने के लिए इस सूत्र की रचना हुई है। परन्तु यहाँ कोई शिष्याचार्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है किन्तु

संसार सागर में डूबते हुए अनेक प्राणियों के उद्धार की पुण्य भावना से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले इस सूत्र की रचना की गई है।

दर्शनमोह कर्म के उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारण से होने वाले तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस अन्तरङ्ग कारण की पूर्णता कहीं निसर्ग से होती है और कहीं अधिगम अर्थात् परोपदेश से होती है। इसी कारण से सम्यग्दर्शन भी निसर्गज और अधिमगजके भेद से दो प्रकार हो जाता है।

प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादितत्त्वों का संशय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

संसार के कारणभूत रागद्वेषादिकी निवृत्ति के लिए कृतसंकल्प विवेकी पुरुष का शरीर और वचन की बाहय क्रियाओं से आभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वरूपस्थिति प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र वीतरागी-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में तथा जीवनमुक्त केवली के होता है। उससे नीचे विविध प्रकार का तरतम चारित्र श्रावक और दसवें गुणस्थान तक के साधुओं को होता है।

ज्ञान और दर्शन शब्द करण साधन हैं अर्थात् आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते हैं और उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है। चारित्र शब्द कर्मसाधन है अर्थात् जो आचरण किया जाता है वह चारित्र है।

प्रश्न-यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करण को ज्ञान कहते हैं तो जैसे 'कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते हैं' यहाँ कुल्हाड़ी और काटने वाला दो जुदा पदार्थ है उसी तरह कर्त्ता आत्मा और और करण-ज्ञान इन दोनों को दो जुदा पदार्थ होना चाहिए ? उत्तर नहीं,जैसे 'अग्नि उष्णता से पदार्थ को जलाती है' यहाँ अग्नि और उष्णता दो जुदा पदार्थ नहीं है फिर भी कर्त्ता और करण रूप से भेदप्रयोग हो जाता है उसी तरह आत्मा और ज्ञान में भी जुदापन न होने पर भी कर्त्ता-करणरूप से भेदव्यवहार हो जायगा। एवम्भूतनय की दृष्टि से ज्ञानक्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शनक्रिया में परिणत आत्मा दर्शन जैसे कि उष्णपर्याय में परिणत आत्मा अग्नि है। यदि अग्नि को उष्णस्वभाव नहीं माना जाय तो अग्नि का स्वरूप ही क्या रह जाता है जिससे उसे अग्नि कहा जा सकेगा ? उसी तरह यदि आत्मा को ज्ञान

दर्शनस्वरूप न माना जाय तो आत्मा का भी क्या स्वरूप बचेगा जिससे उस ज्ञानदर्शनादिशून्य पदार्थ को आत्मा कह सकें ? अतः अखण्ड द्रव्य दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

शंका-ज्ञान और दर्शन चूंकि एक साथ उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें एक ही मानना चाहिए ? **समाधान**-जिस प्रकार ताप और प्रकाश एक साथ होकर भी दाह और प्रकाशन रूप अपने भिन्न लक्षणों से अनेक हैं, उसी तरह तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानरूप भिन्न लक्षणों से ज्ञान और दर्शन भी भिन्न भिन्न है। फिर, यह कोई नियम नहीं है कि जो एक साथ उत्पन्न हों वे एक हों। गाय के दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं पर अनेक है, अतः इस पक्ष में दृष्टविरोध दोष आता है। जैनदर्शन में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों से वस्तु का विवेचन किया जाता है। अतः द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता और पर्यायार्थिक नय की गौणता करने पर ज्ञान और दर्शन में एकत्व भी है। जैसे परमाणु आदि पुद्गलद्रव्यों में बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से एक साथ रूपरसादि परिणमन होता है फिर भी रूप-रस आदि में परस्पर एकत्व नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शन में भी समझना चाहिए। अथवा, जैसे अनादि पारिणामिक पुद्गलद्रव्य की विवक्षा में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता और पर्यायार्थिकनय की गौणता रहने पर रूप रस आदि में एकत्व है क्योंकि वही द्रव्य रूप है और वही द्रव्य रस, उसी तरह अनादिपारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्य की विवक्षा रहने पर ज्ञान और दर्शन में अभेद है क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है तथा वही आत्मद्रव्य दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायों की विवक्षाा करते हैं तब ज्ञानपर्याय भिन्न है तथा दर्शन पर्याय भिन्न।

प्रश्न-ज्ञान और चारित्र में कालभेद नहीं है अतः दोनों को एक ही मानना चाहिए। किसी व्यभिचारी पुरुष ने अंधेरी रात में मार्ग में जाती हुई अपनी व्यभिचारिणी माता को ही छेड़ दिया। इसी समय बिजली चमकी। उस समय जैसे ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह 'मां' है वैसे ही तुरंत अगम्यागमन से निवृत्त हो जाता है, इसी तरह जैसे ही इस जीव को यह सम्यग्ज्ञान होता है कि जीवहिंसा नहीं करनी चाहिए वैसे ही वह हिंसा से निवृत्त हो जाता है। अतः ज्ञान और चारित्र में काल भेद नहीं है और इसीलिए इन्हें एक मानना चाहिए। उत्तर-जिस प्रकार सुईसे ऊपर नीचे रखे हुए 100 कमलपत्रों को एक साथ छेदने पर सूक्ष्म कालभेद

की प्रतीति नहीं होती यद्यपि वहाँ कालभेद है उसी तरह ज्ञान और चारित्र में भी सूक्ष्म कालभेद का भान नहीं हो पाता, कारण काल अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञान और चारित्र में अर्थभेद भी है-ज्ञान जानने को कहते हैं तथा चारित्र कर्मबन्ध की कारण क्रियाओं की निवृत्ति को। फिर यह कोई नियम नहीं है कि जिनमें कालभेद न हो उनमें अर्थभेद भी न हो। देखो, जिस समय देवदत्त का जन्म होता है उसी समय मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति शरीर वर्ण गन्ध आदि का भी उदय होता है पर सबके अर्थ जुदे जुदे हैं। इसी तरह ज्ञान और चारित्र के भी अर्थ भिन्न भिन्न हैं।

यह पहिले कह भी चुके हैं कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से ज्ञानादिक में एकत्व है तथा पर्यायार्थिक दृष्टि से अनेकत्व।

प्रश्न–यदि दर्शन ज्ञान आदि में लक्षण भेद है तो ये मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते, इन्हें तीन मार्ग मानना चाहिए ? **उत्तर**–यद्यपि इनमें लक्षण भेद है फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करते हैं जो अखण्डभाव से एक मार्ग बन जाती है जैसे कि दीपक बत्ती तेल आदि विलक्षण पदार्थ मिलकर एक दीपक बन जाते हैं। इसमें किसी वादी को विवाद भी नहीं है। सांख्य प्रसादलाघव-शोषताप-आवरणसादन रूप से भिन्न लक्षण वाले सत्त्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था को एक प्रधान तत्त्व मानते हैं। बौद्ध कक्खड कर्कश द्रव उष्ण आदि रूप से भिन्न लक्षणवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों तथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार भौतिकों के समुदाय को एक रूपपरमाणु मानते हैं। इसी तरह रागादि धर्म और प्रमाण प्रमेय अधिगम आदि धर्मों का समावेश एक ही विज्ञान में माना जाता है। नैयायिकादि भिन्न रंग वाले सूत से एक चित्रपट मान लेते हैं। उसी तरह भिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों एक मार्ग बन सकते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र में पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है अर्थात हो भी न हो। किन्तु उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ निश्चित है-वह होगा ही। जैसे जिसे सम्यक्‌चारित्र होगा उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होंगे ही पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्णसम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो।

शंका–पूर्व सम्यग्दर्शन के लाभ में उत्तर ज्ञान का लाभ भजनीय है अर्थात्

हो भी न भी हो यह नियम उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञान यदि नहीं होता तो अज्ञानपूर्वक श्रद्धान का प्रसङ्ग होता है। फिर जब तक स्वत्वका ज्ञान नहीं किया गया तब उसका श्रद्धान कैसा ? जैसे कि अज्ञात फल के सम्बन्ध में यह विधान नहीं किया जा सकता कि 'इस फलके रस से यह आरोग्य आदि होता है' उसी तरह अज्ञात तत्त्व का श्रद्धान भी नहीं किया जा सकता। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है अतः वह न्यूनाधिक रूप में सदा स्थायी गुण है उसे कभी भी भजनीय नहीं कहा जा सकता अन्यथा आत्मा का ही अभाव हो जायगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्याज्ञान की तो निवृत्ति हो जायगी और सम्यग्ज्ञान नियमतः होगा नहीं, अतः सर्वथा ज्ञानाभाव से आत्मा का ही अभाव हो जायेगा।

समाधान–पूर्व ज्ञान को भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्य को। ज्ञान की पूर्णता श्रुतकेवली और केवली के होती है। सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान अवश्य हो ही जायगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी यथासंभव देशसंयत को सकलसंयम यथाख्यात आदि भजनीय हैं।

'पूर्व-अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के लाभ में चारित्र भजनीय है' यह अर्थ करना उचित नहीं है क्योंकि वार्तिक में 'पूर्वस्य' यह एक वचनपद है अतः इससे एक का ही ग्रहण हो सकता। यदि दो की विवक्षा होती तो 'पूर्वयोः' ऐसा द्विवचनान्त पद देना चाहिए था। यदि एक वचन के द्वारा भी सामान्य रूप से दोका ग्रहण किया जाता है तो 'भजनीयमुत्तरम्' यहाँ भी 'उत्तरम्' इस एक वचन पद के द्वारा ज्ञान और चारित्र दोका ग्रहण होने से पूर्वोक्त दोष बना ही रहता है। अथवा, 'क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर क्षायिक ज्ञान भजनीय है- हो अथवा न हो' यह व्याख्या कर लेनी चाहिए। अथवा, 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों की एक साथ उत्पत्ति होती है अतः नारद और पर्वत के साहचर्य की तरह एक के ग्रहण से दूसरे का भी ग्रहण हो ही जाता है अतः पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान का लाभ होने पर भी उत्तर अर्थात् चारित्र भजनीय है' यह अर्थ भी किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप–

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।। 2।।

तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सम्यक् यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) है। यह प्रशस्त रूप गति जाति कुल

आयु विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयसका प्रधान कारण होता है। 'सम्यगिष्टार्थ-तत्त्वयोः' इस प्रमाण के अनुसार सम्यक् शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है अतः इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है, इस शंका का समाधान यह है कि निपात शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, अतः प्रशंसा अर्थ मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा सम्यक् का अर्थ 'तत्त्व' भी किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा 'तत्त्वदर्शन। अथवा, यह क्विप्, प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानने वाला।

दर्शन शब्द करणसाधन कर्तृसाधन और भावसाधन तीनों रूप है।

प्रश्न–दर्शन शब्द करणसाधन दृशि धातु से बना है और दृशि धातु का अर्थ देखना है। अतः दर्शन का श्रद्धान अर्थ नहीं हो सकता ? **उत्तर**– धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए उनमें से श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जायगा। चूंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है अतः दर्शन का देखना अर्थ इष्ट नहीं है किन्तु तत्त्वश्रद्धान अर्थ ही इष्ट है।

तत्त्व शब्द भावसामान्य का वाचक है। 'तत्' यह सर्वनाम है जो भाव सामान्यवाची है। अतः तत्त्व शब्द का स्पष्ट अर्थ है- जो पदार्थ जिस रूप से है उसकी उसी रूप होना। अर्थ माने जो जाना जाय। तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसका उसी रूप से ग्रहण। तात्पर्य यह कि जिसके होने पर तत्त्वार्थ-अर्थात् वस्तु का यथार्थ ग्रहण हो उसे सम्यग्दर्शन कहते है।

जिस प्रकार दर्शन शब्द करण भाव ओर कर्म तीनों साधनों में निष्पन्न होता है उसी तरह श्रद्धान शब्द भी 'जिसके द्वारा श्रद्धान हो' जो श्रद्धान किया जाय' और 'श्रद्धामात्र' इन तीनों साधनों में निष्पन्न होता है। यह श्रद्धान आत्मा की पर्याय है। आत्मा ही श्रद्धान रूप से परिणत होता है।

मोक्ष का वर्णन–

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।। 1।। (अ. दशवाँ)

संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है और चारित्र-ध्यानाग्नि के द्वारा जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया है उस मोहनीय का क्षय हो जाने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ 'उत्पन्न होता है ऐसा उपदेश दिया गया है' इस वाक्य शेष का अन्वय कर लेना चाहिये।

मोहक्षय का पृथक् प्रयोग क्रमिक क्षय की सूचना देने के लिए है। पहिले मोह क्षय करके अन्तर्मूहूर्ततक क्षीणकषाय पद को पाकर फिर एक साथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय कर कैवल्य प्राप्त करता है। मोह का क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, यह जताने के लिए पंचमी विभक्ति से मोहक्षय की हेतुता का द्योतन किया है।

मोहादिका क्षय परिणाम विशेषों से होता है। पूर्वोक्त तैयारी के साथ परम तप को धारण कर प्रशस्त अध्यवसाय में उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए साधक के शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है और अशुभ प्रकृतियाँ कृश होकर विलीन हो जाती है। कोई वेदकसम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थान में सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ करता है। कोई साधक असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत या अप्रमत्त संयत किसी भी गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो चारित्र मोह का उपशम प्रारम्भ करता है। फिर अधःप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके उपशम श्रेणी चढ़कर अपूर्वकरण उपशमक व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामों से पाप कर्मों के प्रकृति स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मों के अनुभाग को बढ़ाता हुआ अनिवृत्तिबादर साम्परायक गुणस्थान में जा पहुँचता है। वहाँ नपुंसकवेद स्त्री वेद नव नोकषाय पुंवेद अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध दो माया दो लोभ क्रोधसंज्वलन और मानसंज्वलन इन प्रकृतियों का क्रमशः उपशमन कर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में पहुँचता है। वहाँ प्रथम समय में मायासंज्वलन का उपशमकर लोभसंज्वलन को क्षीण कर सूक्ष्मसाम्परायोपशमक कहलाता है। फिर उपशान्त कषाय के प्रथम समय में लोभसंज्वलन का उपशम कर समस्त मोह का उपशम होने से उपशान्तकषाय कहलाता है। यहाँ आयु के क्षय से मरण हो सकता है। अथवा फिर कषायों की उदीरणा होने से नीचे गिर जाता है। वही या अन्य कोई विशुद्ध अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करता हुआ पहिले की तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षपक श्रेणी चढ़ता है। अधःप्रवृत्त आदि तीन करणों से अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे आठ कषायों का नाश कर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को उखाड़कर छह नोकषायों को पुंवेद में, पुंवेद को क्रोधसंज्वलन में, क्रोधसंज्वलन को मान में, मानको माया में, माया को लोभ में डालकर क्रमशः क्षय करके अनिवृत्तिबादर साम्परायक क्षपक

गुणस्थान में पहुँचता हुआ लोभसंज्वलन को सूक्ष्म करके सूक्ष्मसाम्परायक हो जाता है। उससे आगे समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषायगुणस्थान में मोहनीय का समस्त भार उतार कर फैंक देता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा प्रचलाका क्षय करके पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का अन्त समय में विनाश कर अचिन्त्यविभूतियुक्त केवलज्ञान दर्शनस्वभाव को निष्प्रतिपक्षीरूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य पर्यायों का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली कृतकृत्य मेघपटलों से विमुक्त शरत्कालीन पूर्ण चन्द की तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है। इन केवल ज्ञानदर्शन वाले सशरीरी ऐश्वर्यशाली घातिया कर्मों के नाशक और वेदनीय आयु नाम और गोत्रकर्म की सत्ता वाले केवली के बन्ध के कारणों का अभाव और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का विशेष और प्रकृष्टरूप से मोक्ष होने को मोक्ष कहा है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।। (2)।।

मिथ्यादर्शन आदि बन्ध हेतुओं के अभाव से नूतन कर्मों का आना रुक जाता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता ही है। पूर्वोक्त निर्जरा के कारणों से संचित कर्मों का विनाश होता है। इन कारणों से आयु के बराबर जिनकी स्थिति कर ली गई ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मों का युगपत् आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

प्रश्न- कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए?
उत्तर- जैसे बीज और अंकुर की सन्तान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज को जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह मिथ्यादर्शनादि तथा कर्मबन्ध सन्तति के अनादि होने पर भी ध्यानाग्नि से कर्मबीजों के जला देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता। यही मोक्ष है। कहा भी है- ''जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी तरह कर्मबीज के जल जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।'' कृत्स्न का कर्मरूप से क्षय हो जाना ही कर्मक्षय है; क्योंकि विद्यमान द्रव्य का द्रव्य रूप से अत्यन्त विनाश नहीं होता। पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्यायरूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः पुद्गलद्रव्य की कर्मपर्याय का प्रतिपक्षी कारणों के मिलने से निवृत्ति होना क्षय है। उस समय पुद्गलद्रव्य अकर्म

पर्याय से परिणत हो जाता है।

मोक्ष शब्द भावसाधन है। वह मोक्तव्य और मोचककी अपेक्षा द्विविषयक है, क्योंकि वियोग दो का होता है। कृत्स्न अर्थात् सत्ता बन्ध उदय और उदीरणा रूप से चार भागों में बँटे हुए आठों कर्म। कर्म का अभाव दो प्रकार का होता है- एक यत्नसाध्य और दूसरा अयत्नसाध्य। चरमशरीर के नारक तिर्यंच और देवायुका अभाव अत्यन्तसाध्य है, क्योंकि इनका स्वयं अभाव है। यत्नसाध्य इस प्रकार है- असंयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में किसी में अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का विषवृक्षवन शुभाध्यवसायरूप तीक्ष्ण फरसे से समूल काटा जाता है। निद्रा निद्रा प्रचल-प्रचला स्त्यानगृद्धि नरकगति तिर्यंचगति एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिनिन्द्रय जाति नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतप उद्योत स्थावर सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की सेना को अनिवृत्तिबादरसाम्पराय युगपत अपने समाधिचक्र से जीतता है और उसका समूल उच्छेद कर देता है। इसके बाद प्रत्याख्यान और अप्रत्यख्यान क्रोध माना माया लोभ इन आठ कषायों का नाश करता है। वहीं नपुंसकवेद स्त्रीवेद तथा छह नोकषायों का क्रम से क्षय होता है। इसके बाद पुंवेद संज्वलन क्रोध मान और माया क्रम से नष्ट होती हैं। लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय के अन्त में नाश को प्राप्त होता है। क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला क्षय को प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का बारहवें के अन्त में क्षय होता है। कोई एक वेदनीय देवगति औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणशरीर छह संस्थान औदारिक-वैक्रियिक आहारक अंगोपांग, छह संहनन पाँच प्रशस्तवर्ण पाँच अप्रशस्तवर्ण दो गन्ध पाँच प्रशस्तरस पाँच अप्रशस्तरस आठ स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति अपर्याप्त प्रत्येक शरीर स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ दुर्भग सुस्वर-दुःस्वर अनादेय अयशस्कीर्ति निर्माण और नीचगोत्रसंज्ञक 72 प्रकृतियों का अयोग केवली के उपान्त्य समय में विनाश होता है। कोई एक वेदनीय मनुष्यायु मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य त्रस बादर पर्याप्तक सुभग आदेय यशकीर्ति तीर्थंकर और उचगोत्र इन तेरह प्रकृतियों का अयोग केवली के चरम समय में व्युच्छेद होता है।

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च।। (3)।।

भव्यत्व का ग्रहण इसलिये किया है कि जीवत्व आदि की निवृत्ति का प्रसंग न आवे। अतः परिणामिकों में भव्यत्व तथा औपशमिक आदि भावों का अभाव भी मोक्ष हो जाता है। **प्रश्न**-कर्मद्रव्य का निरास होने से तन्निमित्तक भावों की निवृत्ति अपने आप ही हो जायगी, फिर इस सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है ? **उत्तर**-निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का अभाव हो ही ऐसा नियम नहीं है। फिर जिसका अर्थात् ही ज्ञान हो जाता है उसकी साक्षात् प्रतिप्रत्ति कराने के लिए और आगे के सूत्र की बैठाने के लिए औपशमिकादि भावों का नाम लिया है।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।। (4)।।

अन्यत्र शब्द 'वर्जन' के अर्थ में है, इसीलिए पंचमी विभक्ति भी दी गई है। यद्यपि अन्य शब्द का प्रयोग करके पंचमी विभक्ति का निर्वाह हो सकता था पर 'त्र' प्रत्यय स्वार्थिक है, अर्थात केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन और सिद्धत्व से भिन्न के लिए उक्त प्रकरण है।

ज्ञान दर्शन के अविनाभावी अनन्तवीर्य आदि 'अनन्त' संज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते है अर्थात् उनकी भी निवृत्ति नहीं होती। अनन्तवीर्य से रहित व्यक्ति के अनन्तज्ञान नहीं हो सकता और न अनन्त सुख ही; क्योंकि सुख तो ज्ञानमय ही है।

जैसे घोड़ा एक बन्धन से छूट कर भी फिर दूसरे बन्धन से बँध जाता है उस तरह जीव में पुनर्बन्ध की आशंका नहीं है; क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि कारणों का उच्छेद होने से बन्धनरूप कार्य का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी तरह भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि रागविकल्पों का अभाव हो जाने से वीतराग के जगत् के प्राणियों के दुःखी और कष्ट अवस्था में पड़ा हुआ देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नहीं होता। उनके समस्त आस्रवों का परिक्षय हो गया है। बिना कारण के ही यदि मुक्त जीवों को बन्ध माना जाय तो कभी मोक्ष ही नहीं हो सकेगा। मुक्तिप्राप्ति के बाद भी बन्ध हो जाना चाहिये।

स्थान वाले होने से मुक्त जीवों का पात नहीं हो सकता; क्योंकि वे अनास्रव हैं। आस्रव वाले ही यानपात्र का अधःपात होता है। अथवा, वजनदार ताड़फल आदि की प्रतिबन्धक-डण्ठलसंयोग आदि के अभाव में पतन होता है,

गुरुत्वशून्य आकाश प्रदेश आदि का नहीं। मुक्त जीव भी गुरुत्वरहित है। यदि मात्र स्थान वाले होने से पात हो तो सभी धर्मादिद्रव्यों का पात होना चाहिये।

अवगाहनशक्ति होने के कारण अल्प भी अवकाश में अनेक सिद्धों का अवगाह हो जाता है। जब मूर्तिमान भी अनेक प्रदीप-प्रकाशों का अल्प आकाश में अविरोधी अवगाह देखा गया है तब अमूर्त सिद्धों की तो बात ही क्या है? इसलिये उनमें जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों की बाधा नहीं है; क्योंकि मूर्त अवस्था में ही प्रीति परिताप आदि बाधाओं की सम्भावना थी, पर सिद्ध अव्याबाध होने से परमसुखी है। जैसे परिमाण एक प्रदेश से बढ़ते-बढ़ते आकाश में अनन्तत्व को प्राप्त हो जाता है और उसका कोई उपमान नहीं रहता उसी तरह संसारी जीवों का सुख सान्त और सोपमान तथा प्रकर्ष-अप्रकर्ष वाला हो सकता है पर सिद्धों का सुख परम अनन्त परिमाणवाला निरतिशय है।

मुक्त जीव चूँकि अनन्तर अतीत शरीर के आकार होते हैं अतः अनाकार होने के कारण उनका अभाव नहीं किया जा सकता। लोकाकाश के समान असंख्य प्रदेशी जीव को शरीरानुविधायी मानने पर शरीर के अभाव में विसर्पण-फैलने का प्रसंग भी नहीं आता; क्योंकि नामकर्म के सम्बन्ध से आत्मप्रदेशों का गृहीत शरीर के अनुसार छोटे-बड़े सकोरे घड़े आदि आवरणों में दीपक की तरह संकोच और विस्तार होता है, पर मुक्त जीव के फिर फैलने का कोई कारण नहीं है। मूर्त दीपक का दृष्टान्त आत्मा में भी लागू हो जाता है; क्योंकि आत्मा उपयोगस्वभाव की दृष्टि से अमूर्त होकर भी कर्मबन्ध की दृष्टि से मूर्त है। कहा भी है- ''बन्ध की दृष्टि से एकत्व होकर भी लक्षण की दृष्टि से शरीर और जीव जुदे-जुदे हैं। अतः आत्मा में एकान्त से अमूर्तभाव नहीं है।'' अतः कथञ्चित् मूर्त होने से दृष्टान्त समान ही है। जैसे चन्द्रमुखी कन्या कहने से एक प्रियदर्शनत्वके सिवाय अन्य चन्द्रगुणों की विवक्षा नहीं है उसी तरह प्रदीप की तरह संहार विसर्प कहने से आत्मा में अनित्यत्व का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि दृष्टान्त के सभी धर्म द्राष्टान्त में नहीं आते, यदि सभी धर्म आ जायँ तो वह द्रार्ष्टान्त ही नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न-जैसे बत्ती तेल और अग्नि आदि सामग्री से जलने वाला दीपक सामग्री के अभाव में किसी दिशा या विदिशा को न जाकर वहीं अत्यन्त विनाश को प्राप्त हो जाता है उसी तरह कारणवश स्कन्ध सन्ततिरूप से प्रवर्तमान स्कन्धसमूह-

जिसे जीव कहते हैं, क्लेश का क्षय हो जाने से किसी दिशा या विदिशा को न जाकर वहीं अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है ? **उत्तर**-प्रदीप का निरन्वय विनाश भी असिद्ध है जैसे कि मुक्त जीवों का। दीपक रूप से परिणत पुद्गल द्रव्य का भी विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गलजाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः यह शंका भी निर्मूल है कि जहाँ कर्मबन्ध का अभाव हो वहीं मुक्त जीव को ठहरना चाहिये; क्योंकि अभी यह प्रश्न विचारणीय है कि उसे वहीं ठहरना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होने से गमन करना चाहिये।

'गौरव न होने से अधोगति तो उसकी होती नहीं और योग न होने से तिरछी आदि भी गति नहीं है; अतः वही ठहरना चाहिये', इस आशंका के निवारणार्थ सूत्र कहते हैं-

तदन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।। (5)।।

तत् कर्मों का विप्रमोक्ष होते ही आत्मा समस्त कर्मभार से रहित होने के कारण लोकाकाश पर्यन्त उर्ध्व गमन करता है। यहाँ आङ् अभिविधि अर्थ में है।

संवर-निर्जरा-मोक्ष हेतु तप-त्याग-धर्म करूँ न कि सांसारिक कार्य हेतु

(मैं आत्मोपलब्धि हेतु ही तपादि करूँ ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि-सत्कार पुरस्कार आदि हेतु नहीं।)

(चाल :- 1. मन रे! तू काहे 2. सायोनारा...) - आचार्य कनकनन्दी

आत्मन्/(कनक)(तू) संवर/(निर्जरा) हेतु तप/(धर्म) कराेऽऽऽ
इच्छानिरोधमय होता तप...सुभावनामय संकल्प करोऽऽऽ(ध्रुव)
इच्छा होती है मोहोदय से...औदयिक भाव है बन्ध कारकऽऽऽ
सुभावना से तू संकल्प करो...ये औपशमिक से क्षायिक भावऽऽऽ
(ये संवर-निर्जरा-मोक्षकारकऽऽऽ(1) आत्मन्!)

स्व-आत्मतत्त्व की उपलब्धि बिना...अन्य सभी की कामना है इच्छाऽऽऽ
देव-मानवों के वैभव की इच्छा...ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि की इच्छाऽऽऽ
(भोगोपभोग चाहना भी है इच्छाऽऽऽ(2) आत्मन्।...)

इच्छा-कामना या अप्रशस्त निदान से...होता है सम्यक्त्व से भी च्युतिऽऽऽ
चतुर्थकाल के मुनि तक भी कामना से...हो जाती मिथ्यात्व तक परिणतिऽऽऽ
(जिससे सभी साधना व्यर्थ होतीऽऽऽ(3) आत्मन्!...)

प्रशस्त निदान या सुभावना-संकल्प में...लक्ष्य होता केवल आत्मविशुद्धिऽऽऽ
जिससे आत्मा की उपलब्धि है मुक्ति...इस हेतु ही ग्राह्य यथायोग्य प्रवृत्तिऽऽऽ
(अन्तरंग तप हेतु बाह्य तप प्रभृतिऽऽऽ(4) आत्मन्!)

ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि हेतु...यदि कोई चाहता तीर्थंकर प्रकृति/(विभूति)ऽऽ
तत्काल वह हो जाता मिथ्यात्वी...(क्योंकि) यह चाहना नहीं आत्मोपलब्धिऽऽऽ
(यह है अप्रशस्त निदान परिणतिऽऽऽ(5) आत्मन्!...)

उपवास आदि बाह्य छहों तपस्या...प्रायश्चित आदि छः अन्तरंग तपस्याऽऽऽ
यदि ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि हेतु है...वे सभी हो जाती मिथ्या तपस्याऽऽऽ
(यथा विषमिश्रित भोजन न भक्ष्य योग्यऽऽऽ(6) आत्मन्!...)

तेरे शरीर की प्रकृति है उष्ण-पित्त...उसके अनुकूल तप-त्याग करऽऽऽ
एकान्त-मौन-स्वच्छ-शीत स्थान निवास...तदनुरूप ही आहार-विहारऽऽऽ
(शरीर माध्यम से कर आत्म उपकारऽऽऽ(7) आत्मन्!)

अतएव शक्ति से तप-त्याग करो...भले हो अन्य से न्यून तप-त्यागऽऽऽ
किन्तु निस्पृह-निराडम्बर-साम्य रहो...ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि से दूरऽऽऽ
(आत्मविशुद्धि से तपस्या हो भरपूरऽऽऽ(8) आत्मन्!...)

भीड़ जोड़ना या धन संग्रह हेतु...अथवा बाह्य धर्म प्रभावना हेतु भीऽऽऽ
भौतिक निर्माण से ग्रन्थ प्रकाशन हेतु...न करो तप-त्याग-ज्ञान-ध्यानऽऽऽ
('कनक' आत्मोपलब्धि (ही) तेरा परम लक्ष्यऽऽऽ(9) आत्मन्!)

दीपावली पर विशेष : धन से धर्म की प्रभावना बढ़ाइए, पाखण्ड की नहीं

आजकल मंदिरों में धर्म से अधिक धन की चर्चा होती रहती है, फलतः जो ट्रस्टी या समाजसेवी दस बजे सोकर उठते थे, वे सुबह 6 बजे नहा-धोकर उक्त स्थानों पर तैनात मिलते हैं। तब दो दृश्य याद आते हैं, एक तो उस सर्कस का, जिसके रिंग में पांच हाथी एक लाईन से चलकर तमाशा बतलाते थे तथा एक विदूषक सा दिखने वाला कर्मचारी टोकनी लिए, परदे की आड़ में खड़ा रहता था और ज्यों ही कोई हाथी लीद (मल) करता था, विदूषक दौड़ कर उसके पीछे टोकनी चिपका कर चलने लगता था। मल इकट्ठा कर तुरन्त बाहर निकल जाता था रिंग से। दूसरा दृश्य यह कि समाजसेवीगण एक चौकीदार की तरह सुबह 6 बजे से, सेवा पर हाजिर हो जाते हैं, पॉकेट में रशीद बुक और कलम रखे हुए, ज्योंही कोई दाता राशि की बोली लेता है, चौकीदार रसीद काटकर धमा देता है। दोनों दृश्यों में विदूषक और चौकीदार की कर्तव्यपरायणता देखने समझने लायक होती है। वे दोनों चले जाते हैं, पर पाखण्ड की गूंज मंदिर और वसतिका में घंटों तक बनी रहती है।

क्या अपने मंदिर में धनराशि की चर्चा में लिप्त रहकर 'मुनीम' नहीं बने जा रहे है ? क्या मंदिर के गर्भ में खड़े होकर शांतिधारा की बोली माइक से बोलकर गर्भगृह को एक दुकान का रूप नहीं दिया जा रहा है ? भई, बाजार या दुकान पर धन की चर्चा उचित है, पर मंदिरों और वसतिकाओं में ? क्या जवाब है आपके पास!

गृहस्थ और उसकी गृहस्थी में दुकान का बोलबाला तो बना ही रहता है, परन्तु धर्म के केन्द्रों पर धन का बोलबाला शोभा नहीं देता। कौन सी बीमारी हो गई है कि लंगोटी त्याग देने के बाद भी दृष्टि धन की गोटी पर ही लगी रहती है। जिस तरह प्रदर्शनी में नाना प्रकार के जिन्स/आईटम दर्शित कर ग्राहकों को लुभाते हैं और उनके जेब खाली करा लिये जाते हैं, उसी तरह देवालय और वसतिका में अनेक प्रकार की पूजाएँ, मंत्र, जापें, यंत्र, दिखलाकर, दिलाकर भक्तों की तिजोरियाँ खाली कराई जा रही है। जो लोग गृह त्याग कर ही आये थे, फिर वे भवन

धर्मशाला मंदिर बनवाने में ठेकेदार की तरह व्यस्त क्यों रहने लगे ? न शाम को भक्ति, न दोपहर में सामायिक बस धन की चर्चा में ही समय नष्ट करते रहते हैं। निर्माण कार्य ही पसंद थे तो गृहत्याग न करते, एक श्रावक के रूप में तिकड़म भिड़ाते रहते जुगाड़ बैठाते रहते और मनचाहे कार्य करते रहते। कम से कम धार्मिक आडम्बर तो न कर पाते। धर्म का अवमूल्यन तो न होता। जिस तरह एक मदारी डमरू बजाकर भीड़ बुला लेता है, उसी तरह चालाक समाज सेवीगण संत का प्रवचन सुनवाकर भीड़ एकत्र कर लेते हैं और उस भीड़ की आड़ में संत, धर्म, सिद्धान्त, समाज, संस्कृति आदि को खतरे में पड़ने की भविष्यवाणी कर करोड़ों रूपये की राशि जमा कर लेते हैं। संत भी माता और गौमाता से लेकर जमाता तक के प्रसंग सुनाकर भीड़ का मनोरंजन करते हैं। अब तो भ्रूणहत्या और बेटी-रक्षा की बातें भी नमक-मिर्च के साथ परोसी जा रही हैं। मकसद वही कि कोई न कोई आईटम तो पसंद कर लेगी भीड़। कुछ वक्ता माता-पिता की सेवा करने की बातें करते हैं, अरे, जब जानते थे कि माता-पिता की सेवा से स्वर्ग मिलती है, तो संत बनने क्यों चले आये ? सदियों से चर्चित मातृभक्त श्रवण कुमार तो संत नहीं बने थे, उनने तो माता-पिता की सेवा से ही स्वर्ग हासिल किया था।

कुछ संतगण निःसंतान दम्पत्ति को पुत्रवान् होने का आशीष दे रहे हैं, क्या इन बातों से ब्रह्मचर्य का दोष नहीं लगता ? सच, वे बातें कोई भी करें, नजर 'गोटी' पर ही रहती है, भगवान् पर नहीं।

इसलिए ध्यान रखें कि कोई सत्ता, शराब बनाने वाली कम्पनी को नहीं बंद करती, परन्तु जनता को सदा 'शराब-बन्दी' की नसीहत देती है। ज्ञानवान् लोग नसीहत के बिना ही शराब त्याग कर देते हैं। तो क्या श्रावक भी विचार नहीं कर सकता कि धर्म की आड़ में फैलाए जा रहे आडम्बर के चक्रव्यूह से बचकर निकल लेना है फंसना नहीं है। मंदिर और घर में अध्यात्म की चर्चा करना है, अर्थ(वित्त) की नहीं। शांतिधारा के लिए की जाने वाली बोली, नित्यनित्य अशांति का कारण न बन पाये। मंदिर में भक्तों से भी अधिक संख्या में प्रतिमाएँ न विराज पाये। जिन्हें अपना नाम रोशन करना है वे भलाई से किसी का नाम प्रसिद्ध न हो पावेगा।

हमारे पूर्वज जिन प्रतिमाओं की स्थापना कर गये थे, उन प्राचीन प्रतिमाओं

को पूजते, अर्चते रहें, प्राचीन तीर्थ, मंदिर, मूर्तियों के जीर्णोद्धार में सहयोग करते रहें, संख्या बढ़ाने से विसम्वाद ही बढ़ते हैं, धर्म नहीं।

साभार- 'जैनगजट' 5.10.2018 (सुरेश जैन 'सरल')

तपस्या : धार्मिक-वैज्ञानिक-आयुर्वेदिक दृष्टि

अनादि काल से आत्मा कर्मरूपी कलंक से मलिन हुई है। जैसे-अशुद्ध सुवर्ण पाषाण को शुद्ध करने के लिए अग्नि में 16 बार डालकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार अशुद्धात्मा को तपरूपी अग्नि में डालकर शुद्धिकरण किया जाता है। जिस प्रकार बिना अग्नि के अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध स्वर्ण रूप रूप में परिणमन नहीं करता है उसी प्रकार बिना तप से अशुद्धात्मा-शुद्धात्मा रूप परिणमन नहीं कर सकता है, इसीलिए आत्मा शुद्धिकरण के लिए तप की अत्यन्त आवश्यकता है। तप से पापकर्म का निरोध होता है। जैसे-दीपक को प्रज्वलन करने से पूर्व का अन्धकार नष्ट होता है, नवीन अन्धकार प्रवेश नहीं करता है एवं वह परिसर प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार तप रूपी दीपक से पूर्व संचित पाप रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है एवं नवीन पापरूप अंधकार प्रवेश नहीं करता है और आत्मा प्रकाशमान हो जाता है। आचार्य उमास्वामी ने तप का महत्व, कार्य एवं प्रतिफल का वर्णन करते हुए कहा है- ''तपसा निर्जरा च''। तप का धर्म में अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है। यथा-

यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदन भस्माङ्गरादि प्रयोजन।
उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदय कर्मक्षय हेतुरित्यत्र को विरोध।।

अग्नि एक समान होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे-अग्नि एक है तो भी उसके विच्छेदन, भस्म और अंगार आदि कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है।

प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य सुख शांति प्राप्त करना है और जिसके माध्यम से इसकी उपलब्धि होती है उसे सामान्यतः धर्म कहा जाता है। धर्म से न केवल पारलौकिक, आध्यात्मिक सुख मिलता है परंतु उससे इहलोक संबंधी शारीरिक/मानसिक/सामाजिक आदि सुख भी मिलता है। आयुर्वेद के अनुसार

वात, पित्त, कफ आदि का समरूप होना स्वास्थ्य है तो मनोविज्ञानिक दृष्टि से मन का उदार, स्थिर, पवित्र होना मानसिक स्वास्थ्य है तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा का पवित्र होना, अनन्तज्ञान,दर्शन, सुख, वीर्य, वैभव आदि से युक्त होना आध्यात्मिक स्वास्थ्य है। अतएव स्वास्थ्य शब्द की व्युत्पत्ति ही स्व में स्थिर होना है। अंतिम आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की भी आवश्यकता है क्योंकि ''शरीरमाद्यं खलु धर्मः साधनम्।'' अर्थात् धर्म साधना के लिए शरीर माध्यम है। मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए मध्य दीपक के समान काम करता है अर्थात् दो कमरों के मध्य के देहली में रखा गया दीपक जिस प्रकार दोनों कमरों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार मानसिक-स्वास्थ्य शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। भारत में आयुर्वेद, ध्यानयोग, तपाचार आदि में जो कुछ प्रक्रिया का वर्णन है, उससे सिद्ध होता है कि बहिरंग एवं अन्तरंग तप उपरोक्त तीनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है।

गौतम गणधर ने तप के उत्कृष्ठतम भेद ध्यान का वर्णन करते हुए कहा है-

जो सारो सव्व सारेसु सो सारो एस गोयम।
सारं झाणंति णामेण सव्वं बुद्धेहि देसिदं।।

जगदन्तवर्ती सब वस्तुओं में सार 'व्रत' है उनमें भी हे गौतम! ध्यान ही श्रेष्ठ सार है क्योंकि 'सार ध्यान' इस नाम से सब बुद्धों (सर्वज्ञों) ने ध्यान को सार कहा हैं।

पातंजली योग दर्शन में महर्षि पतंजली ने ध्यान के पहले यम, नियम, प्राणायाम, आसन आदि की साधना के लिए कहा है। उसी प्रकार जैन धर्म में भी ध्यान के पहले व्रत, नियम, समिति, गुप्ति, बहिरंग तप एवं अन्तरंग तप को कहा है।

बहिरंग एवं अन्तरंग तप में शारीरिक स्वास्थ्य के लिए 1) अनशन (उपवास) 2) ऊनोदर (भूख से कम खाना) 3) व्रतपरिसंख्यान (भोजन संबन्धी नियंत्रण) 4) रस परित्याग (रस संबन्धी गृद्धता का त्याग या विरोधी रसों का एक साथ सेवन नहीं करना) (5) विविक्त शय्यासन (प्रदूषण रहित शांत-प्रशांत वातावरण में साधना करना) 6) कायक्लेश (महान् कार्य के लिए शारीरिक श्रम करना) आदि तप मुख्यता से कार्यकारी हैं। इसके साथ-साथ इससे शारीरिक

स्वास्थ्य की उपलब्धि एवं मन की विशुद्धि भी होती है जिससे मानसिक स्वास्थ्य लाभ होता है और मानसिक स्वास्थ्य लाभ से शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है।

मानसिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अन्तरंग तप 1) प्रायश्चित (स्व दोषों को स्वीकार पूर्वक दूर करना) 2) विनय (गुण-गुणी के प्रति नम्रता) 3) वैयावृत्ति (विनम्रता सहित निस्वार्थ रूप से गुरुजन-गुणीजन आदि की सेवा करना) 4) स्वाध्याय (स्व आत्मा की पवित्रता के लिए आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना) 5) व्युत्सर्ग (शारीरिक ममत्व के साथ-साथ तनाव को दूर करना) 6) ध्यान (मन की एकाग्रता) आदि मुख्य साधन हैं। उपरोक्त 6 अन्तरंग तप से मुख्यता से मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ होने पर भी इस मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य से शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है, स्वास्थ्य में वृद्धि होती है तथा मन से उत्पन्न होने वाले रोग दूर होते हैं।

उपर्युक्त बहिरंग, अन्तरंग तप के माध्यम से जब भाव विशुद्ध हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है वह 6) ध्यान तप होता है। ध्यान में न बाह्य द्रव्यों का कुप्रभाव रहता है, न अन्तरंग कुभावों का प्रभाव रहता है। इसलिए मन भी शांत, निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। इस ध्यान के माध्यम से ही जीव समस्त द्रव्य-कर्म एवं भाव-कर्मों को नष्ट करके सिद्ध, बुद्ध, अनन्त सुखी हो जाता है। यदि अन्यान्य तप करते हुए भी मन स्थिर, शांत (ध्यान) नहीं हुआ तो जानना चाहिए कि वह तप, यथार्थ से तप नहीं था केवल तपाभास था। ध्यान में अन्यान्य तपों का अन्तःपरीक्षण होता है। ध्यान तपों के मापदण्ड है परंतु बकों के जैसे ध्यान का ढोंग रचना ध्यान नहीं है। ध्यानी के बाह्य आचरण,व्यवहार में भी ध्यान की सुगंधी आती है। जैसे ध्यानी, गम्भीर, शांत,क्षमावान्, दयावान्, सरल, निर्भीक, सौम्य, साम्यभावी होगा।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि तपस्वी, भोजन, रस, जनसम्पर्क, शरीर से लालसा/राग/इच्छा/आकर्षण हटाता हुआ दोषों को दूर करता है, विनम्र व्यवहार करता है, सेवाव्रत स्वीकार करता है, स्वाध्यायशील होता है, निष्कामी, निरहंकारी होता है एवं मन को संयमित करके आत्मा में यथायोग्य स्थिर रहता है।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हाणाण तवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।

तप से रहित ज्ञान एवं ज्ञान से रहित तप कार्यकारी नहीं है। इसलिए ज्ञान एवं तप से संयुक्त जीव निर्वाण को प्राप्त करता है।

णाणेण जाणइ भावे, संदणेण य सद्दहे।
चारित्तेण णिणिणहइ तवेण परिसुज्झइ।।

भावों को ज्ञान से जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मों को नष्ट करता है वह तप है एवं तप से परिशुद्ध होता है।

दानं दुर्गतिनाशाय, शीलं सद्गति कारणम्।
तपः कर्म विनाशाय, भावना भवनाशिनी।।

दान से दुर्गतिनाश होता है, शील से सद्गति मिलती है, तप कर्म विनाश के लिए हैं, भावना भव (संसार) का नाश करती है।

तप की परिभाषा

तिण्णं रयणाणमाविब्भावद्धमिच्छाणिरोहो।(धवल पुस्तक 13)

तीन रत्नों को प्रकट करने के लिए इच्छा निरोध को तप कहते हैं।

तप के भेद :-

तं सब्भंतरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मंणाम।। (26)

वह अभ्यंतर और बाह्य के भेद से बारह प्रकार का है वह सब तप कर्म है।

इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो।
विविहं काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स।। (400)(स्वा. का.

जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का कायक्लेश करता है उसके निर्मल तप धर्म होता है।

उस मुनि का तप निर्मल कहा जाता है जो सुख-दुःख में, शत्रु-मित्र में, लाभ-अलाभ में, इष्ट-अनिष्ट में और तृण-कंचन में समभाव रखता है, तथा इस लोक और परलोक के सुखों की जिसे चाह नहीं है क्योंकि जो मायाचार, मिथ्यात्व और निदान (आगामी सुखों की चाह) से रहित होकर व्रतों का पालन करता है

वही व्रती कहलाता है। कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से जैन मार्ग के अनुकूल जो तपा जाता है वही तप है। इच्छा को रोकने का नाम भी तप है।

स्वअध्ययन (स्वाध्याय) तप :- अगांग बाहिर आगम वयण पुछणाणु पेहा- परियट्ठाण-धम्म कहाओ सज्झायो णाम।

अंग और अंग बाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है।

स्वाध्याय केवल शुद्ध आगम अर्थात् द्रव्य श्रुत को पढ़ते रहना स्वाध्याय नहीं है, परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यम से भावश्रुत द्वारा स्वआत्म-द्रव्य का अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना ही यथार्थ स्वाध्याय है।

प्रज्ञातिशय, प्रशस्ताध्यवसायः
परमंतवमस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।(राजवार्तिक)

प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तपवृद्धि, अतिचार शुद्धि के लिए (संशयोच्छेद व परवादियों की शंका का अभाव) आदि के लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है।

दब्ब सुयादो भावं भावदो सव्व सण्णाणं।
संवेयण वित्ति केवलणाण तदो भणियो।।
गाहिओ सोसुदाणाणे पच्छा संवेयणण कायव्वो।
जो णहु सुदमबलंहाइ सो मुज्झइ अप्प संब्भावो।। (34) नयचक्र

द्रव्यश्रुत से भावश्रुत होता है। भावश्रुत से भेद विज्ञान होता है। उससे संवेदन, आत्मसंवित्ति और केवलज्ञान होता है।

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए। जो श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं लेता है, वह आत्मस्वभाव में मूढ़ रहता है।

जिणवयण मोसदमिणं विसय सुहं विरेयणं अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं। (दंसण पाहुड)

यह जिन वचन रूप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुख को दूर करने वाला है तथा जन्म-मरण रूप रोग को दूर करने के लिए अमृत सदृश है और सर्व दुःखों के क्षय का कारण है।

शास्त्रं वदोडे शांति सैरने निगर्व नीति मेल्वातु मुक्ति स्त्रीचिंते।
निजात्म चिंतने निल वेलक तंल्लदा शास्त्रादिं।।
दुस्त्रीचिंतन दुर्मुखं कलहमु गर्व मनंगोंदडें।
शास्त्रं शस्त्र मे शास्त्रिकनला रत्नाकराधीस्वरा।। (कन्नड़ काव्य)

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता में निरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिंता, क्रोध, मान, माया-आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शस्त्र बन जाता है और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिए करना चाहिए।

सतत अध्ययनशीलता से लाभ :-

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं।। (98) भ. आ.

निपुण, विपुल, शुद्ध, अर्थ से पूर्ण, सर्वोकृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्यकर्म, भावकर्म रूपी मल का नाशक जिनवचन दिन-रात पढ़ना चाहिए।

जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिए। किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं- जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थों का प्रमाण और नय के अनुसार निरूपण करने वाला हो पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषों से रहित होने से शुद्ध हो। विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्त, अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पों से जो जीवादि पदार्थों का विस्तार से निरूपण करता है। निकाचित अर्थात् अर्थ से भरपूर हो। अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो। दूसरों के वचन पुनरुक्त,निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अतः उनसे जिनवचन उत्कष्ट हैं क्योंकि जो गुण उनमें संभव नहीं है उन गुणों से युक्त है। सब प्राणियों का हितकारी है। दूसरों के मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते हैं। ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमल का विनाश करने से जिनवचन पाप का हरने वाला है। उसे रात-दिन पढ़ना चाहिए इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है।

जिनवचन की शिक्षा में गुण :-

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवयवो य संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च।। (99)

आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संवर होता है। नवीन-नवीन संवेग होता है, रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है।

जिनवचन के पढ़ने से आत्महित का परिज्ञान होता है-इंद्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं। इंद्रिय सुखः दुःख का प्रतिकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, राग का सहचारी है, दुर्लभ है, भयकारी है, शरीर का आयासमात्र, है, अपवित्र शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखों के विनाश से उत्पन्न हुआ स्वाध्याय-आत्मा में स्थितिरूप भाव स्थायी सुख है वह नहीं जानता। वह सुख जिनवचन के अभ्यास से प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणाम का संवर अर्थात निरोध भाव संवर है।

ज्ञान से आत्महित परिज्ञान :-

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव।। (100)

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। उसी प्रकार से इस लोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है।

'आत्महित परिज्ञा' इस पद में तो हित को सूचित किया है, जीवादि के परिज्ञान को तो सूचित नहीं किया हैं तब पहले कहे गये हित का कथन न करके जीवादि परिज्ञान का व्याख्यान क्यों किया है ?

आत्महित परिज्ञान का अर्थ आत्मा और हित का परिज्ञान लिया है। 'आत्मा का हित' अर्थ नहीं लिया है। अतः जीवादि का व्याख्यान करना युक्त है।

ऐसा अर्थ करने पर भी जीव का ही निर्देश किया है। तब अजीव आदि का उपन्यास क्यों किया ?

आत्म शब्द अजीवादि का उपलक्षणरूप होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि

'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्र में जीव का प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगे के अजीवादि का उपलक्षण किया है। अथवा आत्मा का ज्ञान हुए बिना उसके हित को जानना कठिन है। आत्मा का परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अतः स्वस्थ्य का ठीक ज्ञान होने पर स्वास्थ्य का सम्यग्ज्ञान होता है। अतः आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है- अनंत पदार्थों में व्याप्त और अवग्रह आदि के क्रम से रहित निर्मल संपूर्णज्ञान जो पर की सहायता के बिना स्वयं होता है उसे एकांत से सुखरूप कहा है। इस कथन से यद्यपि अनंतज्ञान रूप सुख को हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है। अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मों के विनाश-रूप होने से जानने योग्य है। कर्मों का ज्ञान अजीव को जाने बिना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बंधपूर्वक होता है। क्योंकि बंध के अभाव में मोक्ष नहीं होता तथा बंध आस्रव के बिना नहीं होता और मोक्ष के उपाय संवर और निर्जरा है।

यदि अहित से दुःख लेते हैं तो इस लोक में होने वाला दुःख अनुभव से सिद्ध है। उसमें जिनवचन की क्या आवश्यकता? यदि अहित के कारण को अहित कहते हैं तो वह कर्म है और अजीव शब्द से उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परा से दुःख का कारण होने से हिंसा आदि को अहित शब्द से लेते हैं तो भी अहित का पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्रव में उनका अन्तर्भाव होता है।

इस जन्म में अनुभूत भी दुःख को अज्ञानी भूल जाते हैं इसी से वे सन्मार्गों में नहीं लगते। जिनवचन के द्वारा मनुष्य भव में होने वाली विपत्तियों को बतलाने से उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुल में जन्म होने पर वही रोगरूपी साँप के डसने से उत्पन्न हुई आपत्तियाँ आती है। दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और परस्त्री की प्राप्ति न होने रूप अग्नि से चित्त का जलते रहना, धनिकों की निन्दनीय आज्ञा का पालन करने पर भी उनके गाली, गलौच, डाँट-फटकार, मारपीट, परवश मरण आदि को सहना पड़ता है।

जब हित का अर्थ हित का कारण लिया जाता है तो इस लोक में दान, तप आदि हित है। जैसे जंगली औषधि हित का कारण होने से हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वंदना करते हैं। कहा भी है 'दान से दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वंदना

करते हैं। कहा भी है- 'दान से लोक में चिरस्थायी यश होता है। दान से वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दान से पराये भी बंधु हो लोक में चिरस्थायी यश होता है। अतः सुदान सदा देना चाहिए।' तपोधनों को इंद्र, चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते हैं। परलोक में अहित से अर्थ है आगामी नरकगति और तीर्यञ्चगति के भव में होने वाला दुःख और परलोक में हित से अर्थ है मोक्षसुख। जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है।

आत्महित का ज्ञान न होने के दोष :-

आदहिदमयाणां तो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं।। (101)

आत्मा के हित को न जानने वाला मोहित होता है। मोहित हुआ कर्म को ग्रहण करता है। और कर्म का निमित्त पाकर जीव अनंत भवसागर में भ्रमण करता है।

आत्महित या आत्मा और हित को न जानने वाला अहित को हित मानता है, यही मोह है। इस मोह में क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मोही जीव कर्म को ग्रहण करता है। यहाँ पर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभ कर्म ग्रहण में क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म के कारण जीव भवसमुद्र में अनन्तकाल तक भ्रमण करता है।

आत्महित के ज्ञान का उपयोग :-

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य।
होदिय तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं।। (102)

आत्महित को जानने वाले के अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है। हिताहित के ज्ञान के पश्चात् उसका हिताहित भी जानता है। इसलिए (आदहिदं) आत्महित को आगम से सीखना चाहिए।

आत्महित को जानने वाले की हित में प्रवृत्ति हो, किन्तु अहित निवृत्ति कैसे ? जो अहित को जानता है वह अहित से निवृत्त होता है। तथा हित और अहित भिन्न है। जो जिससे भिन्न होता है उसके जानने पर उससे भिन्न का ज्ञान नहीं होता। जैसे बंदर को जानने पर मगर का ज्ञान नहीं होता। और हित से अहित भिन्न

है अतः हित को जानने वाला अहित को नहीं जानता। तब वह कैसे नियम से अहित से निवृत्त होगा ?

प्रत्येक वस्तु का जन्म स्व के भाव और पर के अभाव इन दोनों के आधीन है। जैसे घट बड़े पेट आदि आकार वाला होता है, पटादिरूप से उसका ग्रहण नहीं होता। यदि घट का पटरूप से ग्रहण हो तो विपरीत ज्ञान कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हित से विलक्षण अहित को नहीं जानता वह उससे विलक्षण हित का ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः जो हित को जानता है वह अहित को भी जानता है।

शिक्षा अशुभभाव के संवर में हेतु :-

सज्झायं कुव्वंतो पंचिदियसुबुडो तिगुत्तो यं।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू।। (103)

विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इद्रिंयों के विषयों से संवृत्त और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है।

वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। उसके अर्थ का कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रंथ के पढ़ाने को वाचना कहते हैं। संदेह को दूर करने के लिए अथवा निश्चित को दृढ़ करने के लिए सूत्र और अर्थ के विषय में पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। कंठस्थ करना आम्नाय है। कथा के चार प्रकार हैं- आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदनी। उनके करने को धर्मोपदेश कहते हैं। उस स्वाध्याय को करने वाला पंचेन्द्रिय संवृत्त होता है।

इंद्रिय के अनेक भेद हैं :- द्रव्येंद्रिय और भावेन्द्रिय किंतु यहाँ इंद्रिय शब्द से रूपादि विषयक उपयोग कहा गया है। अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्याय को करने वाले का रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है।

रूपादि विषयक उपयोग को रोकने का क्या फल है ? रागादि की प्रवृत्ति नहीं होती। राग-द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोग का आश्रय पाकर होते हैं। जिस विषय को जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्व मात्र से राग-द्वेष को पैदा नहीं करता। क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य और है, उस मनुष्य में विषय के पास में होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते। कहा है-गति में जाने पर

शरीर बनता है। शरीर से इंद्रियाँ बनती है। इंद्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं। जो विनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह पंचेन्द्रिय संवृत्त ओर तीन गुप्तियों से गुप्त होता है क्योंकि उनका मन अप्रशस्त रागादि के विकार से रहित होता है, झूँठ, रूक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशंसा, परनिंदा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीर के द्वारा हिंसा आदि में प्रवृत्त नहीं करता। तथा स्वाध्याय में लीन साधु एकाग्रमन होता है। अर्थात ध्यान में भी प्रवृत्ति करता है। जिसका श्रुत से परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान, शुक्लध्यान नहीं होते हैं। अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यान के भेद हैं। अपाय आदि के स्वरूप का ज्ञान जिनागम के बल से ही होता है। कहा भी है- आदि के दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववत् श्रुतकेवली के होते हैं।

नवीन संवेग के उत्पन्न होने का क्रम :-

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरसमसुदपुव्वं तं।
तह तहपल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए।।(104)

जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है- वैसे-वैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से आह्लाद युक्त होता है।

जैसे-जैसे श्रुत का अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुत के अर्थ को जानता है। यह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिए। अन्य धर्मों में जो अर्थ नहीं पाया जाता उसे-अतिशय रस' कहा है। क्योंकि शब्द का रस उसका अर्थ है वही उसका सार है। जैसे आम्रफलादिका रस। प्रसर शब्द से अतिशयित अर्थ की बहुलता सूचित होती है। अतः'अतिशयित रस प्रसर' का अर्थ है- अतिशय अभिधेय से भरा हुआ श्रुत।

भव्य और अभव्य जीवों के कानों में श्रुत सुनने में आता ही है तब आप अश्रुतपूर्व कैसे कहते हैं ? यदि श्रुत के अर्थ का ज्ञान न होने से शब्दमात्र श्रुत को अश्रुत कहते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ के उपयोग का भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

अभिप्राय यह है कि श्रद्धानपूर्वक ज्ञान न होने से श्रुत भी अश्रुत होता है। जैसे-जैसे श्रुत को अवगाहन करता है वैसे-वैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से युक्त होता है।

संसार से भीरुता को संवेग कहते हैं। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नहीं है ? इसमें कोई दोष नहीं है। संसार में भीरुता धर्म परिणाम का कारण है। जैसे शस्त्र के आघात के भय से कवच ग्रहण करते हैं इससे संवेग शब्द संवेग का कार्य जो धर्म है उसको कहता है।

निष्कम्पता

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमें ठिच्चा।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो।। (105)

वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यंत विहार करता है वह निश्चल ही है।

प्रवचन के अभ्यास से जो यह जानता है कि ऐसा करने से रत्नत्रय की वृद्धि होती है और ऐसा करने से हानि होती है, वह श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त करता हुआ जीवन्त पर्यन्त विहार करता है अतः वह निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

निःशंकित आदि गुणों से सम्यग्दर्शन की वृद्धि होती है और शंका आदि से हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धि से तथा स्वाध्याय में उपयोग लगाने से ज्ञान की वृद्धि होती है। उपयोग न लगाने से तथा नवीन अपूर्व अर्थ को ग्रहण न करने से ज्ञान की हानि होती है। कहा है- ' पूर्व में ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमें उपयोग नहीं लगाता उसका ज्ञान घट जाता है।' संयम की भावना से वह अपनी शक्ति को न छिपाकर ज्ञान में उपयोग लगाने से बारह प्रकार के तप की वृद्धि होती रहती है। उससे विपरीत करने में और लौकिक कार्यों में फंसे रहने से तप की हानि होती है। पाप क्रियाओं से सम्यक् रीति से विरत होने को संयम कहते हैं। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचनयोग और अशुभ काययोग पाप क्रिया है। अतः चारित्र संयम है। कहा भी है- 'पाप क्रियाओं से निवृत्ति चारित्र है। उस संयम की वृद्धि पच्चीस भावनाओं से होती है और उन भावनाओं के अभाव से संयम की हानि होती है। शास्त्राभ्यास के बिना ज्ञान आदि के गुण अथवा दोष को नहीं जानता। जो गुणों को नहीं जानता वह कैसे गुणों को बता सकता है। और जो दोषों को नहीं जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है? अतः शिक्षा में आदर करना चाहिए।

स्वाध्याय परमतप :-

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं।। (106)

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तपक्रिया नहीं है और न होगी।

संसार और संसार के कारण बंध और बंध के कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओं में जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपों में स्वाध्याय के समान तप न है, न होगा, न था, इस प्रकार तीनों कालों में स्वाध्याय के समान अन्य तप का अभाव कहा है।

स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनों में ही कर्म को तप ने की शक्ति समान है। फिर कैसे कहते हैं कि स्वाध्याय के समान तप नहीं है ? कर्मों की निर्जरा में हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अनशनादि तप नहीं है इस अपेक्षा से उक्त कथन किया है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेणु।। (107)

द्दहुमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स।। (108)

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाखों-करोड़ों भवों में नष्ट करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहुर्त मात्र में क्षय करता है। अज्ञानी को दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानी को होती है।

इतनी शीघ्रता से कर्मों को काटने की शक्ति अन्य तप में नहीं है, यह स्वाध्याय का अतिशय है।

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होंदि।। (109)

स्वाध्याय भावना से सब गुप्तियाँ भावित होती है और गुप्तियों की भावना से मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामों की आराधना में तत्पर होता है।

स्वाध्याय करने पर मनवचनकाय के सब ही व्यापार, जो कर्मों के लाने में कारण हैं चले जाते हैं। ऐसा होने से गुप्तियाँ भावित होती है और तीनों योग का निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रय में लगता है अतः रत्नत्रय सुखपूर्वक साध्य होता है। इसका भाव यह है कि अनंतकाल से जिन तीन अशुभयोगों का इस जीव ने अभ्यास किया हुआ है और कर्म का उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यंत कठिन है। स्वाध्याय की भावना ही इसे करने में समर्थ है।

स्वाध्यायशील :स्व-पर प्रकाशक :-

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स।। (110)

अपने और दूसरों के उद्धार के उद्देश्य से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरों के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान् की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिन शासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिए, उसका भी पालन होता है। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिनवचन के अभ्यास से जिन वचन में भक्ति प्रदर्शित होती है। दूसरों को उपदेश करने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की अव्युच्छिती परम्परा का अविनाश होता है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है। अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता। वे सदा प्रवर्तित रहते हैं।

आस्रवनिरोधःसंवरः
आस्रव का निरोध संवर है।। 1

नूतन कर्म के ग्रहण में हेतु रूप आस्रव का व्याख्यान किया। उसका निरोध होना संवर है। वह दो प्रकार का है- भाव संवर और द्रव्य संवर। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसंवर है और इसका (संसार की निमित्तभूत क्रिया का) निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसंवर है।

अब इस विषय का विचार करना है कि किस गुणस्थान में किस कर्मप्रकृति का संवर होता है, इसलिए इसी विषय को आगे कहते हैं-जो आत्मा मिथ्यादर्शन कर्म के उदय के आधीन है वह मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यादर्शन की प्रधानता से

जिस कर्म का आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादनसम्यग्दृष्टि आदि में संवर होता है। वह कर्म कौन है ? मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असम्प्राप्तसृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर यह सोलह प्रकृति रूप कर्म है।

असंयम के तीन भेद हैं- अनन्तानुबन्धी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय और प्रत्याख्यानावरण का उदय। इसलिए इसके निमित्त से जिस कर्म का आस्रव होता है उसका इसके अभाव में संवर जानना चाहिए। यथा- अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्य के चार संस्थान मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों का एकेन्द्रिय से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ; मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन और मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम का अभाव होने पर आगे इनका संवर होता है। सम्यग्मिथ्यात्व गुण के होने पर आयुकर्म का बन्ध नहीं होता यहाँ इतनी विशेष बात है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। प्रमाद के निमित्त से

आस्रव को प्राप्त होने वाले कर्म का उसके अभाव में संवर होता है। जो कर्म प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होता है उसका प्रमत्तसंयत गुणस्थान के आगे प्रमाद न रहने के कारण संवर जानना चाहिए। वह कर्म कौन है ? असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिरूप प्रकृतियों के भेद से वह कर्म छह प्रकार का है। देवायु के बन्ध का आरम्भ प्रमादहेतुक भी होता है और उसके समीप का अप्रमादहेतुक भी, अतः इसका अभाव होने पर आगे उसका संवर जानना चाहिए। जिस कर्म का मात्र कषाय के निमित्त से आस्रव होता है प्रमादादिक के निमित्त से नहीं उसका कषाय का अभाव होने पर संवर जानना चाहिए। प्रमादादिक के अभाव में होने वाले यह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्यरूप से तीन गुणस्थानों में अवस्थित है। उनमें से अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भिक संख्येय भाग में निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती है। इससे आगे संख्येय भाग में देवगति, पंचेन्द्रिय जाति वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर तैजस शरीर कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। तथा इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती है। ये तीव्र कषाय से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रकृतियाँ है, इसलिए तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने से विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति बादर साम्पराय के प्रथम समय से लेकर उसके संख्यात भागों में पुंवेद और क्रोध संज्वलन का बन्ध होता है। इससे आगे शेष रहे संख्यात भागों में मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं और उसी के अन्तिम समय में लोभ संज्वलन बन्ध को प्राप्त होती है। इन प्रकृतियों का मध्यम कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, अतएव मध्यम कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। मन्द कषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्पराय जीव बन्ध करता है, अतः मन्द कषाय का अभाव होने से आगे

इनका संवर होता है। केवल योग के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली साता वेदनीय का उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवली जीवों के बंध होता है। योग का अभाव हो जाने से अयोग केवली के उसका संवर होता है।

विशेषार्थ- संवर जीवन में नये दोष और दोषों के कारण एकत्रित न होने देने का मार्ग है। संवर के होने पर ही संचित हुए दोषों व उनके कारणों का परिमार्जन किया जा सकता है और तभी मुक्ति-लाभ होता है। साधारणतः वे दोष और उनके कारण क्या हैं यहाँ इनकी गुणस्थान क्रम से विस्तृत चर्चा की गयी है। प्राणीमात्र को इन्हें समझकर संवर के मार्ग में लगना चाहिए यह उक्त कथन का भाव है।

संवर का कथन किया। अब उसके हेतुओं का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।।(2)।।

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।।(2)

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। प्राणीपीड़ा का परिहार करने के लिए भले प्रकार आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना समिति है। जो इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है। शरीरादिक के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परीषह है और परीषंह का जीतना परीषहजय है। चारित्र शब्द का प्रथम सूत्र में व्याख्यान कर आये हैं। ये गुप्ति आदिक संवररूप क्रिया के अत्यन्त सहकारी है, अतएव सूत्र में इनका करण रूप से निर्देश किया है। संवर का अधिकार है तथापि गुप्ति आदिक के साथ साक्षात् सम्बन्ध दिखलाने के लिए इस सूत्र में उसका 'सः' इस पद के द्वारा निर्देश किया है। **शंका-**इसका क्या प्रयोजन है ? **समाधान-**अवधारण करना इसका प्रयोजन है। यथा-वह संवर गुप्ति आदिक द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपाय से नहीं हो सकता। इस कथन से तीर्थ यात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिर को अर्पण करना और देवता की आराधना करना आदि का निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोह के निमित्त से ग्रहण किये गये कर्म का

अन्यथा अभाव नहीं किया जा सकता। अब संवर और निर्जरा के हेतु विशेष का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

तपसा निर्जरा च।। (3)

तपसे निर्जरा होती है और संवर भी होता है।।(3)

तप का धर्म में अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है वह बतलाने के लिए उसका अलग से कथन किया है। **शंका-** तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति के हेतु रूप से स्वीकार किया गया है, इसलिए वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? **समाधान-**यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है ऐसा होने में क्या विरोध है ?

गुप्ति का संवर के हेतुओं के प्रारम्भ में निर्देश किया है, अतः उसके स्वरूप का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।। (4)

योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है।। (4)

'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्र में योग का व्याख्यान कर आये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का बन्द होना निग्रह है। विषय-सुख की अभिलाषा के लिए जानेवाली प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त संक्लेश को नहीं उत्पन्न होने देने रूप योगनिग्रह से कायादि योगों का निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म आस्रव नहीं होता है, इसलिए संवर की प्रसिद्धि जान लेना चाहिए। वह गुप्ति तीन प्रकार की है- कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।

अब गुप्ति के पालन करने में अशक्त मुनि के निर्दोष प्रवृत्ति की प्रसिद्धि के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाःसमितयः।। (5)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितिया हैं।। (5)

यहाँ 'सम्यक्' इस पद की अनुवृत्ति होती है। उससे ईर्यादिक विशेष्यपने को प्राप्त होते हैं- सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग। इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीवस्थानादि विधि को जानने वाले मुनि के प्राणियों की पीडा को दूर करने के उपाय जानने चाहिए। इस प्रकार से प्रवृत्ति करने वाले के असंयमरूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका संवर होता है।

तीसरा संवर का हेतु धर्म है। उसके भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।।(6)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है।। (6)

शंका – यह किसलिए कहा है? **समाधान**–संवर का प्रथम कारण प्रवृत्ति का निग्रह करने के लिए कहा है। जो वैसा करने में असमर्थ है उन्हें प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिए दूसरा कारण कहा है। किन्तु यह दश प्रकार के धर्म का कथन समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद परिहार करने के लिए कहा है। शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिए पर कुलों में जाते हुए भिक्षु को दुष्ट जन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीर को तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषता का उत्पन्न न होना क्षमा है। जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना। योगों का वक्र न होना आर्जव है। प्रकर्षप्राप्त लोभ का त्याग करना शौच है। अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है। **शंका**–इसका भाषासमिति में अन्तर्भाव होता है ? **समाधान**–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समिति के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकार के मनुष्यों में भाषाव्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होने से अनर्थदण्ड का दोष लगता है यह वचनसमिति का अभिप्राय है। किन्तु सत्य धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या

उनके भक्तों में साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्र के शिक्षण आदि के निमित्त से बहुविध कर्त्तव्यों की सूचना देता है और यह सब धर्म की अभिवृद्धि के अभिप्राय से करता है, इसलिए सत्य धर्म का भाषा समिति में अन्तर्भाव नहीं होता। समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि में उनका परिपालन करने के लिए जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है वह संयम है। कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। वह आगे कहा जाने वाला बारह प्रकार का जानना चाहिए। संयत के योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग है। जो शरीरादिक उपात्त हैं उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिंचन्य है। जिसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और उसका भाव या कर्म आकिंचन्य है। अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है। दिखाई देने वाले प्रयोजन का निषेध करने के लिए क्षमादि के पहले उत्तम विशेषण दिया है। इस प्रकार जीवन में उतारे गये और स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषों के सद्भावों में यह लाभ और यह हानि है इस तरह की भावना से प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञावाले उत्तम क्षमादिक संवर के कारण होते हैं।

क्षमादि विशेष और उनके उलटे कारणों का अवलम्बन आदि करने से क्रोधादिकी उत्पत्ति नहीं होती है यह पहले कह आये हैं। उसमें किस कारण से यह जीव क्षमादिक का अवलम्बन लेता है, अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करता है इसका कथन करते हैं। अतः तपाये हुए लोहे के गोले के समान क्षमादिरूप से परिणत हुए आत्महितैषी को करने योग्य-

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तमनुप्रेक्षाः।। (7)

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्याततत्त्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं।(7)

ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषों में सदा

प्राप्त होने वाले संयोग से विपरीत स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगस्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस भव्य के उन शरीरादि में आसक्ति का अभाव होने से भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदि के समान वियोग काल में सन्ताप नहीं होता है।

अज्ञानी का तप

णवि जाणइ जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे।। (124) रयण.

पद्य- जो न जाने जिन सिद्ध स्वरूप त्रिविधि से तथा स्व-आत्मा को।
वह मुनि यदि भी करे तीव्र तप तो भी भ्रमण करे दीर्घ संसार।।

बहिरात्मा की सामग्री

देह कलत्तं पुत्तं मित्ताई विहाव चेदणासरूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।। (134)

पद्य- शरीर-स्त्री-पुत्र-मित्रादि विभाव चेतना को जो माने आत्म स्वरूप।
वह होता है बहिरात्मा क्योंकि आत्मस्वभाव से ये भिन्न रूप।।

समीक्षा-
शरीर से (ले) मित्रादि व राग-द्वेष-मोहादि विभाव चेतना न आत्मस्वभाव।
इन्हें मानना स्वरूप होता विपरीत, अतः वह बहिरात्मा जीव।।

बहिरात्मा का लक्षण

णिय अप्प णाण ज्झाण ज्झयण सुहामियरसायणपाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा।। (132)

पद्य- स्वात्मा/(निजात्मा) का ज्ञान-ध्यान-अध्ययन करने जो सुखामृतरसायन पान करो
इसे त्यागकर जो इन्द्रिय सुख भोगे वह ही निश्चय से बहिरात्मा।।

समीक्षा- निजात्मा ज्ञान-ध्यान स्वाध्याय ही है परमात्मा रसायन पान।
इसे त्यागकर इन्द्रिय सुख भोगे वह ही निश्चय से मिथ्यात्वी जीव।।

बहिरात्मा के भाव

इंदिय विसय सुहाइसु मूएमई रमण ण लहइ तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।। (135) रयण.

पद्य- इन्द्रिय विषय सुखादि में मूढमति रमण करे न जाने तत्त्व।
बहु दुःख मिलेगा न सोचता सो ही होता है बहिरात्मा।।

निश्चय व्यवहार जाने बिना सब मिथ्या

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तय ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं।। (125) रयण

पद्य- जो मुनि न जाने निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय को।
जो भी करे वह तपश्चरण वह सभी मिथ्या रूप कहे जिनेन्द्र।।

भव बीज

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहि विहीणं णाणं तवं जाण भवबीयं।। (126) रयण.

पद्य- क्या जानकर सकल तत्त्व, करके भी क्या बहुत तप ?!
सम्यक्त्व विशुद्धि विहीन ज्ञान-तप ज्ञेय भव बीज।।

बंध व मुक्ति के भाव

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेहि किं बहुणा।। (131) रयण.

पद्य- विषय विरक्त मुनि होते मुक्त विषयासक्त व विमुक्त।
बहिअन्तःपरमात्मा भेद जाने क्या अधिक प्रयोजन।।

इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत्

किंपाय फलं पक्कं विसमिस्सिदं मोदमिव चारु सुहं।

जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्ख सोक्खं पि।। (133)

पद्य- किंपाक फल पक्व विष मिश्रित मोदक सम चारु सुख।
जिह्वा के सम सुख, दर्शन प्रिय यथा तथा जान इन्द्रिय सुख।।

वैराग्य के बिना भाव

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा एदेदो वारिया भणिया।। (75) रयण.

पद्य- भक्ति विहीन विनय, महिलाओं के स्नेह बिना रोदन।
वैराग्य बिना त्याग ये सभी निरर्थक ऐसा है जिनेन्द्र कथन।

भाव शून्य क्रिया से अलाभ

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।
वेरग्ग णाण संजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते।। (76) रयण.

पद्य- शुरत्व बिना सुभट, सौभाग्य बिना महिला की शोभा।
वैराग्य-ज्ञान-संयम हीन श्रमण कुछ भी नहीं पाता।।

तपस्या की आत्मकथा व आत्मव्यथा

(बहिरंग तप अंतरंग तप वृद्धि हेतु, अन्यथा बहिरंग तप पतन हेतु)

(चाल : सायोनारा....)

तपस्या मेरा नाम है कर्म तपाना/(खपाना) काम है।
अंतरंग-बहिरंग भेद से मम अनेक भेद-प्रभेद हैं।। (स्थायी)
इच्छा निरोध मेरा स्वरूप संसार-शरीर-भोग से विरक्त।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि रहित, आत्मविशुद्धि में ही मैं प्रवृत्त।।
राग द्वेष मोह व काम-क्रोध ईर्ष्या तृष्णा घृणा का मैं नाशक।
कर्मनिर्जरा मेरा मुख्य काम, जिससे मिलता अंत में मोक्ष।। (1)

आत्मश्रद्धान-ज्ञान-चारित्र युक्त होने से ही मैं बनता सम्यक्।
अंतरंग प्राप्ति हेत बाह्य रूप अन्यथा कायक्लेश स्वरूप।।
कषाय त्याग हेतु भोजन त्याग, होता मेरा अनशन/(उपवास) स्वरूप।

संयम संतोष स्वाध्याय हेतु अल्पाहार मेरा अवमौदर्य रूप।। (2)

आशा तृष्णा की निवृत्ति हेतु भोजन मर्यादा वृत्ति परिसंख्यान।
रसलोलुपता (दूर) जितेन्द्रियत्व हेतु भोजन रस संयम रसपरित्याग।।
ध्यान-अध्ययन व समता हेतु एकांत निवास विविक्त शय्यासन।
अंतरंग-बहिरंग प्राप्ति निमित्त शारीरिक कष्ट सो कायक्लेश।। (3)

बाह्य रूप मेरा होता साधन/(तन) अंतरंग मेरा होता साध्य/(आत्मा)।
साधन बिना न होता साध्य, साध्य प्राप्ति बिन व्यर्थ साधन।।
प्रायश्चित मेरा अंतरंग रूप दोष निवारण है मेरा स्वरूप।
स्व-दोष की स्वयं (ही) निंदा करना गुरु को बताकर प्रायश्चित्त लेना।। (4)

गुण-गुणियों का आदर करना देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करना।
प्रशंसा बहुमान सेवा करना प्रत्यक्ष-परोक्ष में विनय करना।।
गुरुओं की सेवा वैयावृत्ति करना आहार-औषधि-ज्ञानदान देना।
उपकरणव वसतिका देना परीषह उपसर्ग दूर करना।। (5)

आत्म परिज्ञान हेतु स्वाध्याय करना सत्य-असत्य का ज्ञान करना
हित ग्रहण व अहित त्यागना आत्मविशुद्धि से स्व/(मैं) को जानना।।
शरीर को भी परद्रव्य जानकर मोह त्यागमय व्युत्सर्ग करना।
अहंकार-ममकार-सक्लेश त्यागना स्व-आत्म स्वरूप में लीन रहना।।(6)

ध्यान है मेरा आदर्श रूप इसके लिए पूर्वोक्त रूप।
एकाग्रचित मेरा यह स्वरूप मेरे कारण से मिलता मोक्ष।।
अंतरंग मेरा श्रेष्ठ रूप संवर-निर्जरा-मोक्ष निमित्त।
इसे न जानते रूढ़िवादी धार्मिक, बाह्य को ही मानते हैं साध्य।। (7)

बाह्य रूप से होकर मोहित अंतरंग रूप को करते विकृत।
दोनों स्वरूप ही मेरा संतुलित, इस हेतु 'कनक' बनाया काव्य।। (8)

सन्दर्भ-

मूर्खास्तपोभिः कृशयन्ति देहं, बुधा मनो देह विकारहेतुम्।
श्वा क्षिप्तलोष्टं ग्रसते ही कोपात् क्षेप्तारमेवात्रच हन्ति सिंहः।। (स.कौ.)

मूर्ख मनुष्य तपों के द्वारा अपने शरीर को कृश करते हैं परन्तु ज्ञानी जीव शरीर के विकार का कारणभूत जो मन है उसे कृश करते हैं अथवा मन व शरीर के विकार के कारण को कृश करते हैं। ठीक ही है क्योंकि कुत्ता फेंके हुए पत्थर/(मिट्टी) के ढेले को क्रोधवश ग्रसता है और सिंह फेंकने वाले को नष्ट करता है।

तपाचार (बाह्य तप) का स्वरूप

एकान्ते शयनोपवेशन-कृतिः संतापनं तानवम्,
संख्या-वृत्ति-निबन्धना-मनशनं विष्वाण-मर्द्धोदरम्।
त्यागं चेन्द्रिय-दन्तिनो मदयतः स्वादो रसस्यानिशम्,
षोढ़ा बाह्य-महं स्तुवे शिव गति-प्राप्त्यभ्युपायं तपः।। (4)

(चारित्रभक्ति)

भावार्थ-कर्मों के क्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप कहलाता है। तप मोक्ष प्राप्ति में साधकतम करण है। तप के दो भेद हैं एक बहिरंग, दूसरा अंतरंग। बहिरंग तप के छह भेद हैं- अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। उमास्वामी आचार्य ने इन तपों की उत्तरोत्तर अधिक गुणाधिक्यता को ध्यान में रखते हुए यही क्रम दिया है, यहाँ छंद की मर्यादा/पराधीनता वश क्रम का व्यतिक्रम हुआ है।

बाह्य तप को बाह्य कहने का प्रथम हेतु है- 1. इन तपों की प्रवृत्ति बहिरंग में देखी जाती है तथा 2. इन तपों को संयम मार्ग से दूर रहने वाले अन्यमति जीव भी करते देखे जाते हैं।

स्वामी समंतभद्र आचार्य ने बहिरंग तप को अंतरंग तप की वृद्धि का हेतु कहा है-''आभ्यन्तरस्य तपसः परिवृहणार्थ बाह्य तपः परमदुश्चर माचरस्तवम्'' अर्थात् हे कुन्थुनाथ प्रभो! आपने अंतरंग तप की वृद्धि के लिए अत्यंत कठोर ऐसा बाह्य तप किया था। इन छहों प्रकार के बहिरंग तपों की पूज्यपाद आचार्य स्तुति करते है।

अंतरंग तपों का वर्णन

स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः संप्रत्यवस्थापनम्,
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ, वृद्धे च बाले यतौ।

कायोत्सर्जन सत्क्रिया विनय-इत्येवं तपः षड्विधं,
वंदेऽभ्यन्तरमन्तरंग बलवद्विद्वेषि विध्वंसनम्।। (5)

भावार्थ- उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में अंतरंग तपों का वर्णन करते हुए सूत्र दिया-प्रायश्चितविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। अर्थात् 1. प्रायश्चित, 2. विनय, 3. वैयावृत्ति, 4. स्वाध्याय, 5. कायोत्सर्ग और 6. ध्यान। यह क्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्जरा का हेतु होने के पक्ष की सिद्धि करता है। आगम में भी अंतरंग तपों का यही क्रम प्रसिद्ध है। यहाँ पूज्यपाद स्वामी को छंदकला की रक्षार्थ क्रम का व्यतिक्रम करना पड़ा है। तप दुधारू गाय की तरह द्विगुणित लाभ का संकेत करता है, जैसा कि कहा भी है - ''**तपसा निर्जरा च**'' तप के द्वारा कर्मों का संवर व निर्जरा दोनों ही होते हैं। पञ्चम काल में **''स्वाध्याय परमो तपः''** स्वाध्याय परम तप है क्योंकि इसके करने से मन-वचन-काय तीनों एकाग्र हो जाते हैं। इस काल में शुक्लध्यान का अभाव ही है, पर धर्म्यध्यान के बल से आज भी जीव रत्नत्रय की शुद्धि करके लौकान्तिक इन्द्र आदि पदों को प्राप्त कर सकता है।

वीर्याचार का स्वरूप

सम्यग्ज्ञान विलोचनस्य दधतः श्रद्धानमर्हन्मते,
वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि, स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः।
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा, लघ्वी भवोदन्वतो,
वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं, वन्दे सतामर्चितम्।। (6)

भावार्थ- जिस प्रकार लोक व्यवहार में समुद्र पार करने के लिए छिद्ररहित नौका आवश्यक है उसी प्रकार संसार समुद्र से पार करने के लिए वीर्याचाररूपी नौका आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित मुनिराज का अपनी शक्ति को न छिपाकर तप में प्रवृत्ति करना, शक्ति को नहीं छिपाना यही वीर्याचार है। जिस प्रकार छिद्ररहित नौका समुद्र से पार कर गंतव्य को पहुँचाती है, उसी प्रकार यह वीर्याचार संसार-सागर से पार करने वाली छिद्ररहित नौका है। इसका आश्रय लेने वाले यति/मुनि गंतव्य स्थल मुक्ति को प्राप्त होते हैं। यह वीर्याचार अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त है, साधु पुरुषों/सज्जनों से पूज्य है। इस वीर्याचार को मैं नमस्कार करता हूँ।

अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा

वत्थुसमग्गो मूढो लोहिय लब्भइ फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसयासत्तो लहइ तहा चेव।। (77) रयण.

पद्य:- मूढ लोभी (यथा) वस्तु संग्रह से बिना उपयोग से करे पुनः तृष्णा।
अज्ञानी विषयासक्त नहीं प्राप्त करता तथा आत्म सुख।।

जैन धर्म के विराधक

आरंभे धणधाण्णे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया।
वयगुणसील विहीणा कसाय-कलहप्पिया मुहरा।। (107) रयण
संघविरोह कुसला सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा।
रायाई सेवया ते जिणधम्म विराहिया साहू।। (108) रयण

पद्य- आरंभ में धन धान्य में उपकरण में कांक्षा तथा ईर्ष्यावान्।
व्रत-गुणशील विहीन कषाय-कलह प्रिय व वाचाल।।

पद्य- संघ विरोध में कुशल, स्वच्छन्द रहित गुरुकुल मूढ।
राजादि के सेवारत वे साधु जिनधर्म के विराधक।।

श्रमणों को दूषित करने योग्य कार्य

जोइसविज्जामंत्तोपजीवणं वायवस्स ववहारं।
धणधण्णं पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ।। (109) रयण.

पद्य- ज्योतिष-विद्या-मंत्र-तंत्र उपजीवी भूतप्रेत दूर करने वाला।
धन-धान्य-परिग्रह-संग्राहक श्रमण होता दूषितवाला।।

सम्यक्त्वहीन मुनि

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहार पउरा ते साहू सम्म उम्मुक्का।। (110) रयण.

पद्य- जो पापारंभ रत कषाय युक्त परिग्रहासक्त।
लोकव्यवहार प्रचुर वे साधु सम्यक्त्व से रहित।।

पापी जीव

चम्मट्ठि मंसलव लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो।। (111) रयण.

पद्य- यथा चर्मास्थि मांस लोभी कुत्ता भूंकता है अन्य कुत्ता देखकर।
तथा पापीष्ठ भी घृणा करते हैं धार्मिक मुनि-सद् गृहस्थ पर।।

परलोक कैसे सुधरेगा ?

खाई पूया लाहं सक्काराइं किंइच्छसे जोई।
इच्छई जइ परलोयं तेहिं किं तव परलोयं।। (128) रयण.

पद्य- ख्याति पूजा लाभ सत्कार आदि को क्यों चाहते हो! योगी!?
यदि चाहते हो परलोक तव क्या उत्तम होगा परलोक।।

समीक्षा-ख्याति पूजादि चाह से होता है निदान जिससे होता मिथ्यात्व।
मिथ्यात्व से न मिलता मोक्ष अतः ख्याति पूजादि त्याज्य।।

वह साधु है क्या ?

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजई कि विंतरो भिक्खू।। (117) रयण.

पद्य- क्रोध से व कलह से याचनाशील संक्लेश से।
क्रूरता से व रोष जो खाता वह भिक्षु है व्यंतर।।

मिथ्यात्व सहित मुक्ति नहीं

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छ भावसंजुत्तो।
सव्वण्णुवएसे सो णिव्वाणसुखं ण गच्छेई।। (103) रयण.

पद्य- तीव्र कायक्लेश जो करता मिथ्याभाव से संयुक्त।
सर्वज्ञ उपदेश से निर्वाण सुख को नहीं वह पाता।।

श्रुताभ्यास के बिना सम्यक् तप नहीं

सुदणाणब्भासं जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वं जइ मूढमई संसारसुखारणुरत्तो सो।। 98 रयण.

पद्य- जो श्रुताभ्यास नहीं करते उनका न होता धर्मध्यान सम्यक्।
यदि करता है मूढमति संसार सुख अनुरक्त भाव से।।
समीक्षा- श्रुताभ्यास से होता है सुज्ञान, जिससे होता भेद विज्ञान।
जिससे होता वीतराग विज्ञान, जिससे होता वैराग्यपूर्ण धर्म ध्यान
अन्यथा श्रुताभ्यास बिन न होता उपरोक्त सुज्ञान।
जिससे जो होता धर्म ध्यान वह होता संसार सुख अनुरंजन।।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि व वर्चस्व भोगोपभोग हेतु।
जो होता है धर्म ध्यान जिससे संसार भ्रमण होता वर्द्धमान।।

परिग्रह दुःख कारण

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तहा परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी।। (93) रयण
पद्य- यथा मक्खी श्लेष्मा में पड़कर मरे तथा लोभी परिग्रह से पतित
लोभी-मूढ श्रमण काय-क्लेश में ही पड़ता है अज्ञानी जीव।।

ज्ञानविहीन तप की शोभा नहीं

सालविहीणो राउ दाण दया धम्म रहियगिह सोहा।
णाणविहीण तवो वि य जीव विणा देह सोहं च।। (92) रयण
पद्य- दुर्ग विहीन-राजा, दान-दया-धर्म बिना गृही शोभा।
ज्ञान विहीन तप व जीव बिना देह की नहीं शोभा।।

मात्र बाह्य लिंग कर्म क्षय का हेतु नहीं

कम्मु ण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणे सम्मउम्मुक्को।
अत्थु ण तत्थु ण जीवो लिंग घेत्तूण किं करई।। (87) रयण.
पद्य- कर्म क्षय नहीं करे वह साधु जो परब्रह्म न जाने (सो)सम्यक् रिक्त।
यहाँ व वहाँ नहीं होता जीव केवल लिंग ग्रहण से क्या करे।।
समीक्षा-
जो साधु नहीं जाने परमात्मा को उसके बाह्य तप सभी व्यर्थ।
सम्यग्दर्शन या आत्मश्रद्धान मोक्ष हेतु प्रमुख कारण।।

आत्मज्ञान बिना बाह्य लिंग क्या कर सकता है ?

अप्पाणं पिण पिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ ण भावेइ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई।। 88 रयण.
पद्य- जो स्व आत्मा को देखे नहीं न माने न श्रद्धा न भावना।
बहु दुःखभारभूत लिंग ग्रहण करके क्या करेगा।। ?
समीक्षा-शरीर जड़ व बाह्य लिंग भी जड़ इससे परे स्व-आत्मा।
स्व-आत्मा के ज्ञान-भाव-अनुभव बाह्य लिंग ग्रहणीय।।
किन्तु आत्म श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या बिन बाह्य लिंग होता व्यर्थ।
यथा चेतना रहित शरीर को खिलाना-पिलाना आदि व्यर्थ।

समकित-ज्ञान वैराग्य औषधि

भू महिला कणयाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाण वेरग्गोसहमंतेण जिणुद्दिट्ठं।। (79) (रयणसार)
पद्य- भूमि महिला स्वर्णादि लोभरूपी विषधर सर्प कैसा भी हो।
सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य औषध मंत्र से होते वश यह जिनोक्त।।
समीक्षा-विषधर सर्प से भी अधिक घातक है लोभ रूपी सर्प।
इसे केवल वश कर सकते हैं सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य औषध।।
अन्यथा गृहस्थ हो श्रमण ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि में होते मूर्च्छित।
जिससे वे न कर सकते हैं आत्म विकास रूपी भाव विशुद्धि।।

मुनि दीक्षा से पूर्व 10 का मुण्डन आवश्यक

पुव्वं जो पंचिंदिय तणु मणु वचि हत्थपाय मुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ।। (80) रयण.
पद्य- पहले जो करते मुण्डन पंचेन्द्रिय-तन-मन-वच-हस्त-पाद।
पश्चात करते शिरमुण्डन वे साधु शिवगति के पथिक।।
समीक्षा- केवल शिरमुण्डन से नहीं होता है कोई मोक्षमार्गी।
केशलोंचन के पूर्व कषाय-लोंचनादि अनिवार्य।।

मुझे ऐसे तप-त्याग न चाहिए...! ?

(चाल :- 1. छू लेने दो...2. हर देश में तू....) - आचार्य कनकनन्दी

मुझे ऐसे तप-त्याग न चाहिए, जिससे न हो भाव निर्मल।
/(जिससे हो भाव मलीन)
राग द्वेष मोह ईर्ष्या हो उत्पन्न, ख्याति पूजा लाभ दंभ उत्पन्न।।(ध्रु.)
इच्छा निरोध होता है तप, 'अहंकार' ममकार छोड़ना त्याग।
समता-शान्ति संतुष्टी प्राप्ति, ध्यान-अध्ययन-विशुद्धि प्राप्ति।
संकल्प-विकल्प संक्लेश त्याग, होते हैं यथार्थ से तप-त्याग।। (1)

इसे हेतु होते है तप-त्याग, अंतरंग-बहिरंग बारह तप।
अन्तरंग बहिरंग परिग्रह त्याग, दश बहिरंग चौदह अन्तरंग।
अठ्ठाबीस साधु के मूलगुण, आचार्य उपाध्याय के मूलगुण।। (2)

बहिरंग जिस तप त्याग द्वारा, समता शान्ति (आदि) न होते उत्पन्न।
किन्तु होते है मलिन भाव, ख्याति पूजा लाभ दंभ उत्पन्न।
उससे न होती आत्म-विशुद्धि, ऐसे तप-त्याग से आत्म-पतन।। (3)

विषधर सर्प यथा त्यागते कांचली, किंतु मारक विष नहीं त्यागते।
अन्य को दंशकर मरण देते, स्पिटिंग कोबरा तो विष फेंकते।
मलिन भाव व्यवहार त्याग बिना, बहिरंग तप-त्याग तथाहि होते।। (4)

बहिरंग तप-त्याग करूँ यथाशक्ति, जिससे हो आत्म विशुद्धि शान्ति।
बगुला सम न करूँ बाह्य प्रवृत्ति, दिखावा ढोंग-दंभ नकलची।
अंतरंग तप-त्याग करूँ विशेषतः, जिससे हो संवर-निर्जरा-मोक्ष।। (5)

निदान वर्चस्व रिक्त करूँ तप त्याग, धन-जन-प्रसिद्धि रहित भाव।
आध्यात्मिक विकास अनुभव हेतु, मौन एकान्त में करूँ आत्महित।
द्रव्यक्षेत्र काल भाव के अनुकूल, 'कनक' शुद्ध स्वरूप तो आकिंचन्य।। (6)

सन्दर्भ-

श्रावक अवस्था में श्रावक समता का अभ्यास करता-करता जब राग-द्वेष-मोह को अधिक शिथिलीकरण कर लेता है तब वह श्रमण बन जाता है। श्रमण का

स्वभाव ही साम्य है, समता भाव है। जब मुमुक्षु श्रमण बनता है तब समस्त सावद्य का परित्याग स्वरूप सामायिक चारित्र को स्वीकार करता है। जब इसमें स्थिरता नहीं आती है तब छेदोपस्थापना चारित्र या विकल्प स्वरूप 28 मूलगुणों को धारण, पालन करता है। यह सामायिक चारित्र ही बढ़ता-बढ़ता परमयथाख्यात चारित्र रूप में परिणमन करता है।

श्रावक तो तीन संध्या में सामायिक का अभ्यास करता है परन्तु श्रमण सतत सामायिक रूप में रहता है, जो साधु के लिए तीन संध्या में सामायिक का विधान है वह सामायिक को और वृद्धि करने के लिए तथा आत्मा में स्थिरता धारण करने के लिए हैं। यदि साधु तीन समय में सामायिक करता है और अन्य समय में समता भाव में नहीं रहता हैं तब वस्तुतः वह साधु श्रमण नहीं है। क्योंकि ''समा समणो'' या संयतस्य ''साम्य लक्षण'' अर्थात् साम्य ही श्रमण है तथा संयत का लक्षण साम्य भाव हो। कुंदकुंद देव नियमसार में कहा भी है-

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।। (123)

संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उस साधु की परम समाधि होती है।

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्र उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी, समदाररहियस्स समणस्स।। (124)

वन में निवास, काया का क्लेश, अनेक विविध उपवास तथा अध्ययन, मौन आदि कार्य समता से रहित श्रमण के लिए क्या करेंगे ?

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदिं केवलिसासणे।। (125)

जो संपूर्ण सावद्य योग से विरत, तीन गुप्ति से सहित, और इन्द्रियों को संवृत करने वाले हैं, उनके स्थायी सामायिक है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो समो सव्वभेदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्य सामाइगं ठाई, इदिं केवलिसासणे।। (126)

जो स्थावर और त्रस जीवों के प्रति समस्वभावी है, उसके सामायिक स्थायी

है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जस्स सणिणाहिदो अप्प, संजमें णियमे तवे।
तस्स सामाइंग ठाई इदि केवलिसासणे।। (127)

जिसकी आत्मा संयम में, नियम में और तप में निकट है उसके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जस्स रागो दु दोसा दु, विगडि ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (128)

जिनके राग और द्वेष विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा है।

जो दु अट्टं च रूद्दं च, ज्ञाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स समाइगं ठाई, इदिं केवलिसासणे।। (129)

जो आर्त तथा रौद्र ध्यान को नित्य ही छोड़ देते हैं, उनके सामायिक स्थायी है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (131)
जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स समाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (132)

जो हास्य, रति, शोक और अरति को नित्य ही छोड़ देता है, उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसी केवली भगवान् के शासन में कहा है। जो जुगुप्सा, भय और सभी वेद को नित्य ही छोड़ देता है, उसके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (133)

जो साधु धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा गया है।

जब सम्यक दर्शन की उपलब्धि हो जाती है तब वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथा जब राग-द्वेष क्षीण होता जाता है जब विषमता भी क्षीण हो जाती है। जब अंतरंग में इस प्रकार निर्मल समरसी भाव जाता है तब उसका प्रभाव बाह्य

जगत् में भी पड़ता है इसलिए वह बाह्य द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता है। अतः उसके लिए न कोई शत्रु रहता है और न ही कोई मित्र होता है न कोई अपना रहता है न कोई पराया रहता है। उसके लिए न तो कोई बाह्य लाभ स्वरूप है और न ही कोई बाह्य हानि स्वरूप है। वह तो समस्त विषयों से तटस्थ प्रज्ञ, औदासीन्य, वीतराग-वीतद्वेषी साम्यभावी बन जाता है। जिस प्रकार नदी के तीर पे बैठा हुआ व्यक्ति नदी के स्रोत से न बहता है न ही नदी के जलचर हिंस्र पशु उसे क्षति भी पहुँचा सकते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है -

क्षीयन्तेऽनैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपाश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चित् मे शत्रुर्न च प्रियः।। (25)

जब तक यह जीव अपने निजानंदमयी स्वाभाविक निराकुलता रूप सुधामृत का पान नहीं करता तब तक ही वह बाह्य पदार्थों को भ्रम से इष्ट अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोग के लिए सदा चिंतित रहता है। जो उस संयोग-वियोग के साधक होते हैं उन्हें अपना शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुभव करने लगता है तब रागद्वेषादिरूप विभाव परिणति मिट जाती है और इसलिए बाह्य सामग्री के साधक बाधक कारणों में उसके शत्रु-मित्र का भाव नहीं रहता तो उस समय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शर्त्रुन च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शर्त्रुन च प्रियः।। (26)

आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्र की कल्पना परिचित व्यक्ति में ही होती है अपरिचित व्यक्ति में नहीं। ये संसार के बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्मचक्षुओं के अगोचर है वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना कैसे कर सकते है और जो मेरे स्वरूप को जानते है वे मेरे शुद्धात्म स्वरूप का साक्षात् अनुभव करते है वे मेरे शत्रु व मित्र कैसे बन सकते है ? इस प्रकार अज्ञ व विज्ञ दोनों ही प्रकार के जीव मेरे शत्रु या मित्र नहीं है।

अचेतनमिदंश्मयदृश्यमंचेतनं ततः।
कृष्यामि तुष्यामि मध्यस्थोऽह भावम्यतः।।

अंतरआत्मा को अपने अनाद्यन्त अवद्यरूप भ्रान्त सस्कारों पर विजय प्राप्त

करने के लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि न पदार्थों को मैं इन्द्रियों के द्वारा देख सकता हूँ वे सब जो जड़ है, चैतन्य पदार्थ से रहित है उन पर रोष करना व्यर्थ है वे उसे कुछ समझ नहीं सकते, जो चैतन्य पदार्थ है वे दिखायी नहीं पड़ते वे मेरे रोषतोष का विषय हो नहीं सकते। अतः मुझे किसी से राग-द्वेष न रखकर माध्यस्थ भाव को ही अवलम्बन कर लेना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने भी समता का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निंदापसंसासु न सामिञ्जन्ति पण्डिता।। (6)

जैसे ठोस पहाड़ हवा से नहीं डिगता वैसे ही पंडित निंदा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा त्यजन्ति न काम कामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन पुट्ठा अथवा दुखेन न अच्चावचं पंडित दस्सयंति।। (8)

सत्पुरुष सभी (द्वंद्व राग आदि) को त्याग देते हैं, वे काम-भोगों के लिए बात नहीं चलाते। सुख मिले या दुःख विकार नहीं प्रदर्शन करते।

मा पियोहि समागच्छि अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सन दुख्खं अप्पिनानंच दस्सनं।। (2)

प्रियों का संग न करे और न कभी अप्रियों का, प्रियों को न देखना दुःखद है और अप्रियों को देखना।

वाहितपापोति ब्रह्मणो समचरिया समणोति बुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बोजित्तोति वुच्चति।। (6)

जिसने पाप को धोकर बहा दिया है वह ब्राह्मण है जो समता का आचरण करता है वह श्रमण है, (चूँकि) उसने अपने (चित्त) मलों को हटा दिया इसलिए वह प्रव्रजित कहा जाता है।

समता को हर तीर्थंकर ने अधिक महत्व दिया है। इसलिए तो बीच के 22 तीर्थंकरो ने मात्र सामायिक चारित्र का शिष्यों के लिए प्रतिपादन किया था। क्योंकि सामायिक में ही समस्त मूलगुण-उत्तरगुण चारित्र रत्नत्रय, दशलक्षणधर्म, बाईस परीषह जय गर्भित है। इसलिए अमृतचंद्र सूरि ने श्रावकों के लिए भी सामायिक अधिक से अधिक करने के लिए प्रेरित किया है। यथा-

रागद्वेषत्यागन्निखिलद्रव्येषु साम्यवलम्ब्य।
तत्तत्वोपलब्धिमूल बहुशः सामायिकं कार्य।। (48) (पु.सि.)

समस्त सोना-चाँदी और तृणादिक तथा शत्रु मित्र महल शमशान आदि द्रव्यों में राग द्वेष का त्याग कर देने से समताभाव धारण करके तत्त्व प्राप्ति का मूल कारणभूत सामायिक अधिक रूप से करना चाहिए।

सम् उपसर्ग पूर्वक गति (जाना) अर्थ वाली इण् धातु से समय बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है, अय का अर्थ गमन है, जो एकीभाव रूप से गमन किया जाये उसे समय कहते हैं उसका जो भाव है उसे सामायिक कहते हैं। अर्थात् जो आत्मा को समस्त मन, वचन, काय की इतर वृत्तियों से रोकर निश्चित एक ध्येय की ओर लगा दिया जाता है वही सामायिक कहलाता है।

विपरीत परिस्थिति में, समस्या में, परीक्षा की घड़ी में जो विचलित हो जाता है वह प्रगति नहीं कर सकता है, ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता है। उसमें दृढ़ता नहीं आ सकती है, अनुभव नहीं कर सकता है, ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण को अग्नि से तपाने पर उसकी अशुद्धता निकल जाती है उसी प्रकार जो सुख-दुःख, अनुकूल प्रतिकूल, लाभ-अलाभ रूपी अग्नि से तपता है तब वह शुद्ध हो जाता है परिपक्व हो जाता है। इसलिए विषमता से भयभीत नहीं होना चाहिए, पलायन नहीं करना चाहिए। उस समय अधिक से अधिक समता रखना चाहिए आत्मा का ध्यान रखना चाहिए। कहा भी है-

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मनं भावयेन्मुनिः।। (102)

जो भेद विज्ञान दुःखों की भावना से रहित है-उपार्जन के लिए कष्ट उठाए बिना ही सहज सुकुमार उपाय द्वारा बन जाता है वह परीषह उपसर्गादिक दुःखों के उपस्थित होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए अंतरआत्मा योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के साथ आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।

उत्तराध्ययन में समता का सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से किया है

चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्सक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जए।। (15)

पुत्र और पत्नी और गृह व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय-

पंचमहव्व्यजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।

सब्भिन्तर-बहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ।। (88)

पंच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से सहित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आभ्यंतर और बाह्य तप से उद्यत-

निम्ममोनिरहंकारोनिस्संगोचत्तगारवो।

समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।। (89)

ममत्वरहित, अहंकार रहित, संगरहित, गारव का त्यागी, त्रस तथा स्थावर सभी जीवों में समदृष्टि-

लाभालाभेसुहेदुक्खेजीवविएमरणेतहा।

समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ।। (90)

लाभ में, अलाभ में, सुख में दुःख में, मरण में, निन्दा में प्रशंसा में और मान अपमान में समत्व का साधक-द्रव्य संग्रह में कहा है-

वदसमिदीगुत्तीओं धम्माणुपेहा परीसहजओ य।

चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा।। (35)

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये।

ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं

वसदि पडिमोवयरणो गण गच्छे समयसंघ जाइकुले।

सिस्स पडिसिस्स छत्ते सुजयाते कप्पडे पुच्छे।। (161)

ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।

यावच्च अट्टरुद्धं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं।। (162)

पद्य- वसतिका, प्रतिमा उपकरण गण गच्छ शास्त्र संघ जाति कुल।
शिष्य प्रति शिष्य छात्र पुत्र पौत्रादि वस्त्र व पुस्तक।।

पद्य- पिच्छी संस्तर इच्छाओं में लोभ से करता जो ममकार।
जब तक आर्त-रौद्र तब तक, न त्यागता न मिले मोक्ष।।

सम्यक्त्व से विमुख जिह्वा इन्द्रिय लोलुपी

ण सहंति इयरदप्पं थुवंतिअप्पाण अप्पमाहप्पं।

जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्म उम्मुक्का।। 112 रयण

पद्य- जो सहन न करते अन्य के यश किन्तु स्तवन करते स्वयश।
जिह्वा लोलुपता अनुरक्त वे साधु सम्यक्त्व से विमुख।।

मूर्च्छा परिग्रहः ।। (17)।। मोक्षशा.

मूर्च्छा परिग्रह है।। (17)।।

अब मूर्च्छा का स्वरूप कहते हैं। **शंका-**मूर्च्छा क्या है ? **समाधान-**गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है। **शंका-** लोक में वातादि प्रकोपविशेष का नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छा का ग्रहण क्यों नहीं आता ? **समाधान-** यह कहना सत्य है तथापि मूर्च्छ धातु का सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषों में रहते है ऐसा मान लेने पर यहाँ मूर्च्छा का विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रह का प्रकरण है। **शंका-** मूर्च्छा का यह अर्थ लेने पर भी बाह्य वस्तु को परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मूर्च्छा इस शब्द से आभ्यन्तर परिग्रह संग्रह होता है। **समाधान-** यह कहना सही है; क्योंकि प्रधान होने से आभ्यन्तर ही संग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रह न रहने पर 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला पुरुष परिग्रहसहित ही होता है। **शंका-**यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं ही है और यदि मूर्च्छा का कारण होने से 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामों के समान ज्ञानादिक में भी 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प होता है ? **समाधान-**यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमादरहित है उसके मोह का अभाव होने से मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रहरहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्मा के

स्वभाव हैं, इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। परन्तु रागादिक तो कर्मों के उदय होते हैं, अतः वे आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं, इसलिए उनमें होने वाला संकल्प परिग्रह है यह बात बन जाती है। सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प होने पर संरक्षण आदिरूप भाव होते हैं। और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथून कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

(सवार्थसिद्धि)

निश्शल्यो व्रती।। 18 ।।

जो शल्यरहित है वह व्रती है।। (18) ।।

'श्रृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। शल्य का अर्थ है पीड़ा देने वाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ाकर भाव है वह शल्य शब्द से लिया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियों को बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मनसम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदयजनित विकार में शल्य का उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं। वह शल्य तीन प्रकार की है- माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य। माया, निकृति और वंचना अर्थात् ठगने की वृत्ति यह माया शल्य है। भोगों की लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वों का श्रद्धान मिथ्यादर्शन शल्य है। इन तीन शल्यों से जो रहित है वही निःशल्य व्रती कहा जाता है। **शंका**-शल्य न होने से निःशल्य होता है व्रतों के धारण करने से व्रती होता है। शल्य रहित होने से व्रती नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ देवदत्त के हाथ में लाठी होने पर वह छत्री नहीं हो सकता ? **समाधान**-व्रती होने के लिए दोनों विशेषणों से युक्त होना आवश्यक है, यदि किसी ने शल्यों का त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषों को छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्यों का त्याग करके व्रतों को स्वीकार किया है। जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है। यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलता है, उसी प्रकार जो शल्य है व्रतों के होने पर भी वह व्रती नहीं हो सकता। किन्तु जो निःशल्य है व्रती है।

अब उसके भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अगार्यनगारश्च ।। (19)।।

उसके अगारी और अनागार ये दो भेद हैं।। (19)।।

आश्रय चाहने वाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है। अगार का अर्थ वेश्म अर्थात् घर है। जिसके घर है वह अगारी है। और जिसके घर नहीं है वह अनगार है इस तरह व्रती दो प्रकार का है- अगारी और अनगार। **शंका**-अभी अगारी और अनगार का जो लक्षण कहा है उससे विपरीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार जो मुनि शून्य घर और देवकुल में निवास करते हैं वे अगारी हो जायेंगे और विषयतृष्णा का त्याग किये बिना जो किसी कारण से घर को छोड़कर वन में रहने लगे हैं वे अनगार हो जायेंगे ? **समाधान**-यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ पर भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीय का उदय होने पर जो परिणाम घर से निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वन में निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकार का परिणाम नहीं है वह घर में रहते हुए भी अनगार है। **शंका**- अगारी व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्ण व्रत नहीं है ? **समाधान**-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नैगम आदि नयों की अपेक्षा नगरवास के समान अगारी के भी व्रतीपना बन जाता है। जैसे कोई घर में या झोपड़ी में रहता है तो भी 'मैं नगर में रहता हूँ' यह कहा जाता है उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नहीं है वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा व्रती कहा जाता है।

जो हिंसादिक में से किसी एक से निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है ? **समाधान**-ऐसा नहीं है। **शंका**-तो क्या है ? **समाधान**-जिसके एक देश से पाँचों प्रकार की विरति है वह अगारी है यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। अब इसी विषय को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अणुव्रतोऽगारी।। (20)।।

अणुव्रतों का धारी अगारी है।। (20)।।

अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प है वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है। **शंका**-अगारी के व्रत अल्प कैसे होते हैं? **समाधान**-अगारी के पूरे हिंसादि दोषों का त्याग सम्भव नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते

हैं। **शंका-** तो यह किससे निवृत्त हुआ है ? **समाधान-**यह त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त है; इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजा के भय आदि के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुओं को लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थ के स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संग करने से रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामक चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-आध्यात्मिक विश्लेषण युक्त कविता

पश्चात्ताप-प्रायश्चित से कर्मनाश करूँ! ?

(प्रतिक्रमण-आलोचना-आत्मविश्लेषण-प्रत्याख्यान का स्वरूप व फल)

(चाल : ज्योति कलश छलके...., नीले गगन के तले....)

धन्य स्व-पश्चात्तापऽऽऽ धन्य स्व-प्रायश्चित्तऽऽऽ
मेरे दोष का स्मरण करूँ ऽऽऽ निन्दा-गर्हा से दूर करूँऽऽऽ...(ध्रुव)
आगम-अनुभव से मैं जाना...अनादिकाल से पाप (मैं) कीना...
मन-वचन-काय से...राग-द्वेष-मोह (भाव) से...धन्य...(1)
चौरासी लक्ष योनि मध्ये...पञ्च परिवर्तन चतुर्गति में...
पञ्च पाप सप्त व्यसनों से...अनंतानंत पाप किया मैं...
अनंत दुःख सहे...2...धन्य...(2)...
आत्म स्वभाव से विपरीत किया...देव-शास्त्र-गुरु को न माना...
दीन हीन अहंकारी बना...रत्नत्रय से विपरीत माना...
कुमार्गी बनके...2...धन्य...(3)...
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा कीना...स्व-पर को मैं दुःख दीना...
सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि हेतु...भोगोपभोग हेतु पाप कीना...
भव-भव भ्रमण किया...2 धन्य...(4)...

दुष्ट चिंतन व कथन से...अप्रयोजनभूत काम करने से...
खाना-पीना-सोना-चलने से...किया हूँ पाप पर निन्दा से...
भाव हिंसक बनके...2. धन्य...(5)...
सत्य तथ्य व आत्मज्ञान से...श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव से...
हित-अहित जान रहा हूँ...अहित त्याग हेतु पश्चात्ताप...
प्रायश्चित्त करके...2...धन्य...(6)
अंतःकरण से (मैं) स्व-निन्दा करूँ...गुरु समक्ष गर्हा भी करूँ...
अंतःकरण से जल रहा हूँ...(पूर्व) पाप कर्मों को जला रहा हूँ...
प्रतिक्रमण करके...2...धन्य...(7)...
स्व-पर सहानुभूति कर रहा हूँ...अन्य प्रति समानुभूति कर रहा हूँ...
पर दुःख कातर मैं बन रहा हूँ...मैत्री प्रमोद कारुण्य साम्य भा रहा हूँ...
अनुप्रेक्षा करके...2...धन्य...(8)
हर जीव से क्षमा माँगता हूँ...अक्षमा भाव नहीं रखता हूँ...
पूर्वकृत पाप सभी त्यागता हूँ...भावी पाप को त्याग करता हूँ...
प्रत्याख्यान करके...2...धन्य...(9)...
पाप-ताप-संताप-तनाव...त्याग से मैं बन रहा हूँ पावन...
एकाग्रचित से करूँ ध्यान-अध्ययन...समता-शांति से आत्मकल्याण...
पवित्र भाव से...2...धन्य...(10)...
अशुभ त्यागकर शुभ करता हूँ...आत्माविशुद्धि बढ़ा रहा हूँ...
कर्मनाश से मोक्ष चाहता हूँ...'कनक' शुद्ध-बुद्ध होना चाहता हूँ...
स्वभाव में आके...2..धन्य...(11)...

सन्दर्भ-

प्रतिज्ञा सूत्र

जीवे प्रमाद-जनिताःप्रचुराःप्रदोषाः,
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात-तदर्थ-ममलं, मुनि बोधनार्थ,
वक्ष्ये विचित्र भव-कर्म-विशोधनार्थम्।। (1) (प्रतिक्रमण)

भावार्थ- जिस प्रतिक्रमण से, जीव के द्वारा प्रमाद से उत्पन्न होने वाले अनेक दोष क्षय को प्राप्त होते हैं तथा अनेक भवों में उपार्जित कर्मों का क्षण-मात्र में नाश होता है। इसलिये मुनियों को संबोधन के लिए, मैं ऐसे मल रहित निर्मल प्रतिक्रमण को कहूंगा। (यह प्रतिक्रमण के रचयिता श्री गौतम स्वामी का प्रतिज्ञा सूत्र है।)

''भूतकालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।'' भावीकालीन दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है।

उद्देश्य सूत्र

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना-लोभिना,
रागद्वेष-मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्-निर्मितम्।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्री-पाद-मूलेऽधुना,
निंदा पूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्पथे।। (2)

भावार्थ- हे तीन लोक के अधिपति जिनेन्द्रदेव! मुझ पापी, दुष्ट, अज्ञानी, मायाचारी, लोभी के द्वारा राग-द्वेष रूपी मल से मलिन मन के द्वारा जिन पाप-कर्मों का उपार्जन किया गया है, उन पाप कर्मों को मैं अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सम्पन्न आपके चरण-कमलों में निंदापूर्वक छोड़ता हूँ तथा अब इस समय निरंतर सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की इच्छा करता हूँ। (जिनेन्द्र की साक्षीपूर्वक पाप-कर्मों का त्याग करता हूँ। इस प्रकार यह संकल्प सूत्र है।)

संकल्प सूत्र

खम्मामि सव्व-जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि।। (3)

भावार्थ- मैं संसार के समस्त प्राणियों के प्रति क्षमा भाव धारण करता हूँ। समस्त प्राणी भी मुझ पर क्षमा भाव धारण करें। संसार के सभी जीवों में मेरा मैत्री भाव है तथा किसी भी जीव के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है।

राग परित्याग सूत्र

राग-बंध-पदोसं च हरिसं दीण-भावयं।
उस्सुगतं भय सोगं रदि-मरदिं च वोस्सरे।। (4)

भावार्थ- हे जिनेन्द्र! मैं आपकी साक्षीपूर्वक राग-द्वेष-बंध, हर्ष, दैन्य प्रवृत्ति/भावना, पञ्चेन्द्रिय विषयों की वासना का आकर्षण, लोलुपता, आसक्ति, भय, शोक, रति और अरति का त्याग करता हूँ।

पश्चात्ताप सूत्र

हा! दुट्ठ-कयं हा! दुट्ठु चिंतिय भासियं च हा!
दुट्ठं अंतो-अंतो डज्झमि पच्छत्तावेण वेदंती।। (5)

भावार्थ- 1. हाँ! यदि मैने कार्य से कोई दुष्ट कार्य किया हो। 2. हाँ! यदि मैंने मन से कोई दुष्ट चिन्तन किया हो और 3. हाँ! यदि मैंने कोई दुष्ट वचन बोला हो तो मैं उन मन-वचन-काय की दुष्ट क्रियाओं को दुष्कृत-अशुभ समझता हुआ, पश्चात्ताप से भीतर ही भीतर पीड़ित हुआ जल रहा हूँ अर्थात् अपने दुष्कृत्यों से मेरा अन्तःकरण जल रहा है अतः हे जिनेन्द्र! आपकी साक्षीपूर्वक इनका त्याग करता हूँ।

दव्वे खेत्ते काले भावे य कदावराह-सोहणयं।
णिंदण-गरहण-जुत्तोमण-वच-कायेण पडिक्कमणं।। (6)

भावार्थ-द्रव्य- आहार, शरीर आदि। **क्षेत्र-**वसतिका, मार्ग जिनालय आदि **काल-** पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न आदि **भाव-** संकल्प-विकल्प आदि।

मैं द्रव्य-शरीर आदि, क्षेत्र वसतिका, मार्ग आदि, काल-भूत भावी, वर्तमान अथवा पूर्वाह्न और अपराह्न में किये गये अपने अपराधों की शुद्धि के लिए मन वचन-काय से प्रतिक्रमण करता हूँ।

ए-इंदिया, बे-इंदिया, ते-इंदिया, चतुरिंदिया,, पंचिंदिया, पुढविकाइया आउ-काइया, तेउ-काइया, वाउ-काइया, वणप्फदि-काइया, तस काइया, एदेसिं उद्दावण, परिदावणं विराहणं, उवघादो, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

भावार्थ-हे जिनेन्द्रदेव! मैंने एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी जीव को मारना, पीड़ा देना, एकदेश प्राणों का घात करना, विराधना करना आदि पाप कार्यों को स्वयं किया हो, दूसरों से कराया हो अथवा करने वालों की अनुमोदना की हो तो मेरे पाप मिथ्या हावे।

मोक्षमार्गी साधु

भुजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजम णिमित्तं।
झाणाज्झयण णिमित्तं अणियारो मोक्खमग्ग रओ।। (113) रयण.
पद्य- यथा-लाभ आहार लेते जो ज्ञान संयम निमित्त।
ध्यान-अध्ययन निमित्त साधु सो मोक्षमार्ग रत।।

अपनी शुद्ध आत्मा में रूचि

कम्माइ विहाव सहावगुणं जो भाविऊण भाविण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं।। (129) रयण.
पद्य- जो(मुनि) कर्म व आत्मा के विभाव-स्वभाव-जानकर भावना भाये।
निज शुद्धात्मा रूचे उसे नियम से होता है निर्वाण।।
समीक्षा- स्वशुद्धात्मा स्वरूप है शुद्ध-बुद्ध व आनन्दमय।
शुद्धात्मा से भिन्न है कर्म जो द्रव्य-भाव-नोकर्ममय।।
ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा सहित जो मुनि करे ध्यान-अध्ययन समता।
उन्हें मिलता है मोक्ष सुख स्व शुद्धात्मा रूचि बिन न मोक्ष।।

रत्नत्रय युक्त निर्मल आत्म समय है

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा।। (163) रयण.
पद्य- रत्नत्रय ही गण, मोक्षमार्ग में गमन ही गच्छ।
आत्मगुण समूह ही संघ, निर्मल आत्मा ही समय/(शास्त्र, सुधर्म)।

ज्ञानाभ्यास कर्मक्षय का हेतु

णाणब्भास विहीणा सपरं तच्चं ण जाणए किं पि।
णाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्म खवेइ ण हु मोक्खो (90 रयण)
पद्य- ज्ञानाभ्यास के बिना स्व-पर-तत्त्व न जानते कुछ भी।
ज्ञान जिसे न होता तब तक न कर्मक्षय व मोक्ष नहीं।।
समीक्षा- ज्ञान है स्व-पर प्रकाशी जिससे होता है भेद-विज्ञान।
भेद विज्ञान से ध्यान जिससे वीतराग-विज्ञान व निर्वाण।।

अतएव साधु हेतु ध्यान-अध्ययन है परम कर्त्तव्य।
ध्यान-अध्ययन हेतु ही पालनीय सम्पूर्ण मुनि धर्म।।

अध्ययन ही ध्यान है

अज्झयणमेव झाणं पंचेंदिय णिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो।। (95) (रयण.)
पद्य- अध्ययन ही है ध्यान पंचेन्द्रिय निग्रह-कषाय भी।
अतः पंचमकाले प्रवचनसार अभ्यास ही करणीय ही।।
समीक्षा- हीन संहनन आदि विपरीत परिस्थिति में अध्ययन ही ध्यान।
अतः पंच प्रकार अध्ययन ग्रन्थ लेखनादि अति उत्तम धर्म।।

विकल्प, द्वन्द्व रहित मुनिराज

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मलसहाव जुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ।। 101 रयण.
पद्य- निर्विकल्प-निर्द्वन्द्व-निर्मोह-निष्कलंक होते श्रमण।
निर्मल स्वभाव युक्त होते हैं जो सो होते मुनिराज।।
समीक्षा- बाह्य त्याग-तपस्या करते हैं साधु समता-शान्ति हेतु।
आत्म विशुद्धि से अक्षय-अनन्त आत्म वैभव प्राप्ति हेतु।।
अतएव वे त्याग करते हैं संकल्प-विकल्प-द्वन्द्व व मोह।
कलंकित भाव-व्यवहार-वचन भी त्यागकर बनते निस्पृह।।
सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक व पारिवारिक समस्त द्वन्द्व।
त्याग करते करते सदा आत्मानुशासन व आत्मविशुद्धि।।

मुनिराज कैसे होते हैं ?

णिंदा वंचण दूरो परीसह उवसग्ग दुक्ख सहभावो।
सुहज्झाणज्झयण रदो गयसंगो होइ मुणिराओ।। (102) रयण.
पद्य- निन्दा वञ्चना दूर व परीषह-उपसर्ग-दुःख में समभाव।
शुभ ध्यान अध्ययन रत होते परिग्रह से रहित मुनिराज।।

धर्मानुष्ठान के लिए शरीर पोषण

रस रुहिर मंस मेदट्ठिसुकिल मलमुत्तपूयकिमि बहुलं।
दुग्गंध मसुइ चम्ममयमणिच्चमचेयणं पउणं।। (115) रयण.
बहुदुक्ख भायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।
तं देहं धम्माणुंट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू।। (116) रयण.

पद्य- रस रूधिर मांस भेद अस्थित वीर्य मल मूत्र पीव कृमि बहुल।
दुर्गन्ध अपवित्र चर्ममय अनित्य अचेतन जानकर।।
पद्य- बहु दःख भाजन कर्मकारण, भिन्न स्व आत्मा से देह।
वह देह धर्मानुष्ठान कारण भी है इस हेतु पोषण करते भिक्षु (साधु)।।

मुनियों की पात्रता

उवसम णिरीह झाण झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।। (121) रयण.

पद्य- उपशम निस्पृहता ध्यान अध्ययन महान् गुण जहाँ दिखे।
वे हैं मुनिनाथ उत्तम पात्र उन्हें कहा गया।।

युक्ताहारी साधु ही दुःखों के क्षय में समर्थ

संजम तवझाणाज्झयण विण्णाणये गिण्हये पडिग्गहणं।
वच्चइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खु।। (119) रयण.

पद्य- संयम-तप-ध्यान-अध्ययन विज्ञान वृद्धि हेतु आहार ग्रहण योग्य।
इससे अतिरिक्त (भिन्न) आहार ले जो भिक्षु न नाश करे दुःख।।

हेल्दी ईटिंग

विरुद्ध आहार का मतलब खाने-पीने की वे चीजें जिन्हें एक साथ लेने से सेहत पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। घर के बुजुर्ग भी इसीलिए कुछ चीजें एकसाथ खाने-पीने से रोकते-टोकते हैं। जानते हैं आयुर्वेद विशेषज्ञ की राय-

आहार हमारे जीवन का आधार है, लेकिन खानपान की लापरवाही के कारण अक्सर बीमार पड़ते हैं। स्वास्थ्य के लिए अच्छी जीवनशैली के साथ संतुलित भोजन बेहद जरूरी है।

9 गुण होते हैं हमारे भोजन में। जब इसके नौ गुणों का अवरोध-विरोध पाया जाता है तो इसे विरुद्ध आहार कहते हैं।

13 प्रकार के विटामिन, खनिज तत्त्व, प्रोटीन और फाइटो विटामिंस की खाने में प्रतिदिन होती है शरीर को जरूरत

चक्कर स्वाद का हो या फिर जानकारी का अभाव। जाने-अनजाने में हम कई बार विरुद्ध आहार ले लेते हैं। यदि नियमित रूप से विरुद्ध आहार शरीर में जाए तो कई तरह की बीमारियां हो सकती हैं। यदि ऐसे आहार को लेते वक्त घर के बड़े बुजुर्ग कुछ चीजें एक साथ खाने-पीने से टोके तो हमें इसका बुरा मानने की बजाय उनकी सलाह पर ध्यान देना चाहिए। इससे कई तकलीफों से बच सकते हैं। इन विरुद्ध आहार से मतलब है कि खाने-पीने की वे चीजें जिन्हें एक साथ लेने से सेहत को नुकसान होता है। आयुर्वेद के अनुसार हमारे भोजन में नौ गुण होते हैं और जब भोजन में इन गुणों का अवरोध या विरोध पाया जाता है तो उसे विरुद्ध आहार कहा जाता है। खानपान में इनका सही तरीके से प्रयोग कर स्वस्थ रहा जा सकता है।

संतुलित भोजन में होते हैं ये 9 गुण

संतुलित भोजन में वर्ण, प्रसाद, सुखम्, संतुष्टि, सौस्वरयम्, पुष्टि,प्रतिभा, मेध और बल का गुण होना चाहिए। इनमें समन्वय, सामंजस्य और पूर्ति होने से संतुलित आहार बनता है। ऐसा भोजन देखने और खाने में रुचिकर, पाचक और संतुष्टिवर्धक होता है।

18 प्रकार के होते विरुद्ध आहार

01. देश विरुद्ध : सूखे या तीखे पदार्थों का सेवन सूखे स्थान व दलदली जगह में चिकनाई-युक्त भोजन करना।

02. काल विरुद्ध : सर्दी में सूखी और ठंडी वस्तुए खाना और गर्मी के दिनों में तीखे भोजन का सेवन।

03. अग्नि विरुद्ध : जठराग्नि मध्यम हो और व्यक्ति गरिष्ठ भोजन खाए तो इसे अग्नि विरुद्ध आहार कहा जाता है।

04. मात्रा विरुद्ध : यदि घी और शहद बराबर मात्रा में लिया जाय तो ये हानिकारक होता है।

05. सात्मय विरुद्ध : नमकीन भोजन खाने की प्रवृत्ति रखने वाले मनुष्य को मीठा रसीले पदार्थ खाने पड़ें।

06. दोष विरुद्ध : भोजन का प्रयोग करना जो व्यक्ति के दोष को बढ़ाने वाला हो और उनकी प्रकृति के विरुद्ध हो।

07. वीर्य विरुद्ध : जिन चीजों की तासीर गर्म होती है तो उन्हें ठंडी तासीर की चीजों के साथ लेना।

08. अवस्था विरुद्ध : थकावट के बाद वात बढ़ने वाला भोजन लेना अवस्था विरुद्ध आहार है।

09. क्रम विरुद्ध : व्यक्ति भोजन का सेवन पेट-साफ होने से पहले करें या जब उसे भूख न लगी हो अथवा जब अधिक भूख लगने से भूख खत्म हो गई हो।

10. परिहार विरुद्ध : दूध व उससे निर्मित पदार्थ जिन्हें शरीर पचा नहीं पाता और डॉक्टर भी इन्हें लेने के लिए मना करते हैं।

11. संस्कार विरुद्ध : कई प्रकार के भोजन को अनुचित ढंग से पकाया जाए तो वह विष समान हो जाता है। वही, गर्म करने से विषाक्त हो जाते हैं।

12 कोष्ठ विरुद्धः कोष्ठबद्धता रोगी को थोड़ी मात्रा में, कम मल बनाने वाला भोजन देना या शिथिल गुदा वाले व्यक्ति को गरिष्ठ व ज्यादा मल बनाने वाला भोजन देना कोष्ठ-विरुद्ध आहार है।

13. उपचार विरुद्ध : किसी उपचार-विधि में अपथ्य का सेवन करना। जैसे घी खाने के बाद ठंडी चीजें खाना।

14. पाक विरुद्ध : भोजन पकाने वाली अग्नि कर्म ईंधन से बनाई जाए जिससे खाना अधपका अथवा जल जाए।

15. संयोग विरुद्ध : दूध के साथ अम्लीय पदार्थों का सेवन।

16. हृदय विरुद्ध : ऐसा भोजन रुचिकर ना लगे उसे खाना।

17. समपद विरुद्ध : विशुद्ध भोजन खाना समपाद विरुद्ध आहार है। इससे पौष्टिकता विलुप्त हो जाती है।

18. विधि विरुद्ध : सार्वजनिक स्थान पर बैठकर भोजन खाना।

दूध के साथ नमक वाले पदार्थ न खाएं

दूध के साथ फल नहीं खाएं।

दूध के साथ खट्टे अम्लीय पदार्थ का प्रयोग नहीं करें।

दूध के साथ नमक वाले पदार्थ भी नहीं खाने चाहिए।

गेहूं को तिल तेल मे नहीं पकाएं।

दही के बाद गर्म पदार्थों का सेवन न करें।

केले के साथ दही-लस्सी न लें।

तांबे के बर्तन में घी नहीं रखें।

चाय के बाद ठंडे पानी का सेवन नहीं करना चाहिए।

फल और सलाद के साथ दूध नहीं लेना चाहिए

खाने के एकदम बाद चाय न पीएं।

सुबह ये पी सकते हैं

आंवला व टमाटर का मिक्स जूस सुबह खाली पेट पीया जा सकता है। साथ ही उष्णोदक पान करें। इसके तहत चार कप पानी लीजिए। इसे एक कप रह जाने तक उबालें और गरम चाय की तरह पी लें। स्वाद के लिए इसमें सौंफ या अजवायन मिला सकते हैं।

विरुद्ध आहार लगातार लेने से चर्म रोग, पेट में तकलीफ, खून की कमी (एनीमिया) शरीर पर सफेद चकत्ते-पाचन की खराब होना, पेट से सम्बन्धित विकार, पित्त की समस्या हो सकती है। साथ ही मधुमेह, मोटापा, बीपी आदि बीमारियां भी हो सकती हैं।

डॉ. हरीश भाकुनी आयुर्वेद विशेषज्ञ, एनआईए जयपुर

स्व-जिज्ञासा रूपी परम तप मैं करूँ!

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे...,सायोनारा....)

जिया रे!ऽऽ तू स्व-जिज्ञासु बनऽऽऽ

स्व जिज्ञासा...परम तप सेऽऽऽ आत्मविकासी तू बनऽऽऽ
स्वाध्याय परम तप कर ऽऽऽ/(स्वाध्याय तपस्वी तू बन ऽऽऽ) ...(स्थायी)...
वाचना पृच्छना अनुप्रेक्षा से ऽऽऽ आम्नाय धर्मोपदेशऽऽऽ
स्व-आत्मा तत्त्व अध्ययन करोऽऽऽ आगम व अनुभव सेऽऽऽ
करो हे! तत्त्वार्थ श्रद्धानऽऽऽ जिया रे...(1)...

कौन हूँ मैं क्या है स्वरूपऽऽऽ कबसे हूँ...कब तक रहूँगाऽऽऽ
कहाँ से आया हूँ...कहां है जानाऽऽऽ क्या किया हूँ...क्या है करनाऽऽऽ
आत्मा की पृच्छना करऽऽऽ/(स्व का सम्यग्ज्ञान करऽऽऽ) जिया रे...(2)...

मैं आत्मा हूँ...चैतन्य स्वरूपीऽऽऽ अनादि से हूँ...अनंत रहूँगाऽऽऽ
निगोद से आया मोक्ष में जानाऽऽऽ सब किया...मोक्ष ही पानाऽऽऽ
सिद्धि है स्वात्मोपलब्धिऽऽऽ जिया रे...(3)...

अन्य को जानना भी...स्व-ज्ञान हेतुऽऽऽ द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ सभीऽऽऽ
ग्रहणीय-त्यजनीय...हेय-उपादेयऽऽऽ ज्ञान-ज्ञेय, कार्य-कारण आदिऽऽऽ
इससे करो आत्म विनिश्चित/(इससे करो आत्म विशुद्धि ऽऽऽ) जिया रे...(4)...

स्व-की जिज्ञासा स्व की ही चर्चाऽऽऽ स्व के ही लेखन व प्रवचनऽऽऽ
स्व की विशुद्धि स्व की प्राप्तिऽऽऽ विश्व की महान् उपलब्धिऽऽऽ
अतः 'कनक' स्व-जिज्ञासु बनऽऽऽ/(त्याग परचिन्ता अधमऽऽऽ)
जिया रे...(5)...

स्वाध्याय परम तप से मुझे प्राप्त लाभ

(चाल : रात कली इक....)

धन्य हे! मेरा भाग्य जगा है, स्वाध्याय तप में सतत लगा है।
छोड के राग-द्वेष-मोह-ममत्व, आत्मविशुद्धि में सतत लगा है।। (ध्रुव)
इसी हेतु त्यागा ख्याति पूजा-लाभ, पूर्वाग्रह संकीर्ण भाव।
त्याग के पक्षपात एकान्त आग्रह, सनम्र सत्यग्राही बनाके स्वभाव।।
धन्य हे!...(1)

प्रमाण नय निक्षेप सहित, अनेकान्त (मय) स्याद्वाद सहित।
उत्सर्ग-अपवाद संतुलन युक्त, करता हूँ स्वाध्याय शुद्धि सहित।। धन्य हे!...(2)

इसी से स्व-का परिज्ञान होता, जिससे पर का भी (परि) ज्ञान होता।
जिससे हिताहित परिज्ञान होता, गाह्य-अग्राह्य (का) शोध-बोध होता।।
धन्य हे!...(3)

इसी से होता है सम्यग्दर्शन, जिससे ज्ञान (भी) सुज्ञान होता।
जिससे आचरण (भी) सम्यक् होता, मोक्षपथ भी प्रशस्त होता।।
धन्य हे!...(4)

श्रद्धा-प्रज्ञा से होता है ज्ञान, 'मैं' तो चिन्दानन्द ज्ञानधन।
राग-द्वेष-मोह मुझसे पर, तन-मन-इन्द्रिय (भी) मुझसे पर।। धन्य हे!...(5)
द्रव्य-क्षेत्र काल भावानुसार, शक्ति आयु स्वास्थ्य अनुसार।
आहार-विहार-निवास-विचार/(निर्णय) होता (है) संतुलित आगमानुसार।।
धन्य हे!...(6)

भाव में निर्मलता स्थिरता आती, समता (शांति) निस्पृहता आती।
आत्म गौरव 'सोऽहं' 'अहं' (मैं) भाव जगे (अतः) 'कनक' स्वाध्याय
सतत करे।। धन्य हे!...(7)

सन्दर्भ-

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।। (233) प्र.सार

गाथार्थ- शास्त्र के ज्ञान से रहित साधु न तो आत्मा को न पर को जानता है। परमात्मा आदि पदार्थों को नहीं जानता हुआ साधु किस तरह कर्मों का क्षय कर सकता है?

तीन लोक-तीनों काल में स्वाध्याय परम तप क्यों ?

(चाल : तुम दिल की धड़कन...., सायोनारा....)

स्वाध्याय ही परम तप, तीनों लोक तीनों काल में।
अन्य सभी तप इसी से न्यून, कहा है जिनागम में।। (1)

स्व-अध्ययन ही स्वाध्याय होता, स्व होता है परमात्म सम।

सच्चिदानन्दमय होता है 'स्व', द्रव्य भाव नोकर्म से भी भिन्न।। (2)

स्व-अध्ययन के हेतु होता है, पर द्रव्यों का भी अध्ययन।
द्रव्य-तत्त्व व पदार्थों का ज्ञान, द्रव्य-भाव नोकर्म का भी ज्ञान।।(3)

हित-अहित व ग्रहणीय-त्यजनीय, ज्ञान ज्ञेय का भी होता ज्ञान।
हेय-उपादेय व व्रत-नियमों का, होता स्वाध्याय से यथार्थ ज्ञान।। (4)

तन-मन-इन्द्रियों का होता संयम, कषायों का भी होता शमन।
जिससे होता निर्मल परिणाम, जिससे होता है एकाग्र मन।। (5)

वाचना पृच्छना अनुप्रेक्षा सहित, आम्नाय (परिवर्तन) धर्मोपदेश युक्त।
होता है स्वाध्याय पंच प्रकार, जिससे होता (है) ज्ञान निर्मलतर।।(6)

ज्ञान से ही होता है ध्यान, ज्ञान (मन) की एकाग्रता है ध्यान।
ध्यान से होता है कर्मक्षय, अतएव स्वाध्याय (ज्ञान-ध्यान) से सर्व कल्याण।।(7)

असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती, समता-शांति की वृद्धि होती।
सातिशय पुण्य का भी बंध होता, परम्परा से स्वर्ग मोक्ष मिलता।। (8)

अतः स्वाध्याय सतत करणीय, श्रमण हेतु यह अनिवार्य।
'झाण-अझयण मुक्ख यति धम्मे', तेण विणा ण होदि समण।। (9)

अन्य सभी तप सतत न संभव, स्वाध्याय तप सतत संभव।
स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान व ज्ञान, मनन ध्यान व आचरण/(स्मरण)।। (10)

इसी के बिना न होता श्रमण, नहीं होता है कर्मक्षरण।
अतः स्वाध्याय ही परमतप, 'कनकनन्दी' का परमतप।। (11)

सन्दर्भ-

भेद विज्ञान आगम से होता है इसलिये एकाग्रता तथा भेद विज्ञान के लिए आगम कारण है अतः आगम का अभ्यास एवं आगम के अनुसार आचरण ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, प्रशस्त है क्योंकि बिना आगम छद्मस्थों को ज्ञान नहीं होगा, ध्यान नहीं होगा एवं चारित्र नहीं होगा। इसलिये ज्ञान,ध्यान और चारित्र के लिए आगम का अवलंबन श्रेष्ठ कहा गया है। मूलाचार में कहा भी है-

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता। विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (267)

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिनशासन में उसको ज्ञान कहते हैं।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभाजज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (268)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है।

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा च धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।। (393)

परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए।

बारसविधम्हिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं।। (409)

कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यंतर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा।

सज्झायं कुव्वंतो पंचेदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू।। (410)

विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्र मन वाला हो जाता है।

समीक्षा-आगम में वस्तु स्वरूप मोक्षोपायभूत रत्नत्रय एवं मोक्ष का वर्णन होने से आगम, अध्ययन से उसका परिज्ञान होता है एवं परिज्ञान से चारित्र परिर्माजन होता है। सम्यग्ज्ञान मध्य दीपक के समान है जो सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्रकाशित करता है। आगमाध्ययन ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ-साथ इसका मनन एवं अनुकरण करने से ही कल्याण है इसलिये आचार्य भगवन्त ने कहा है' आगम चेट्ठा-तदो जेट्ठा' अर्थात् आगम में जो उद्योग एवं आगमानुसार जो प्रवृत्ति आचरण/चारित्र है वह ज्येष्ठ है।

विनय अन्तरंग तप व मोक्ष द्वार

(अविनयी होते दंभी-मिथ्यात्वी व अगुणग्राही)

(चाल : छुप गया कोई रे....)

विनय तप/(गुण) महान् है, दंभी नहीं सेवते/(पालते),
सम्यग्दृष्टि-गुणग्राही-नम्र जन सेवते।
विनय है अन्तरंग तप-श्रद्धा-भक्ति-पूजा,
विधान-पंचकल्याण-तीर्थयात्रा प्रार्थना।। (1)

विनय द्विविध है लौकिक व लोकोत्तर,
लौकिक में/(से) न होता धर्म लोकोत्तर धर्म।
लोकानुवृत्ति-काम-भय-अर्थ विनय लौकिक,
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-उपचार-अलौकिक।। (2)

लोक व्यवहार हेतु लोकानुवृत्ति विनय,
काम भोग सेवन हेतु होता काम विनय।
भय से भय विनय व धन हेतु अर्थ विनय,
इससे न होता धर्म न मिलता मोक्ष।। (3)

शंकादि (अष्ट) दोष मुक्त-अष्ट अंग सहित,
देव-शास्त्र-गुरु भक्ति-द्रव्य-भाव-पूजा युक्त।
उनकी प्रशंसा युक्त व अवर्णवाद परिमुक्त,
उनकी अवज्ञा दूर करना दर्शनविनय युक्त।। (4)

ज्ञान व ज्ञानी की भक्ति ज्ञान-विनय,
अष्ट शुद्धि युक्त स्वाध्याय ज्ञान विनय।
ज्ञान दाता गुरु व शास्त्रों का गुण कथन,
अभ्युदय-मोक्ष फल दायक ज्ञान विनय।। (5)

चारित्र व चारित्र धारी भक्ति करणीय,
चारित्र शुद्ध पालन है चारित्र विनय।

प्रत्यक्ष-परोक्ष में विनय करणीय,
उनके गुण कथन व अनुकरण करणीय।। (6)

चारित्रधारी साधु की भक्ति करणीय,
हीन चारित्रधारी साधु की न निन्दा करणीय।
आहार-औषधि-ज्ञान-उपकरण भी देय,
उपसर्ग परिषह दूर भी करणीय।। (7)

तप व तपस्वी होते है वन्दनीय,
अन्तरंग तप हेतु बाह्य तप करणीय।
प्रायश्चित-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय,
व्युत्सर्ग-ध्यान हेतु बाह्य तप करणीय।। (8)

उत्थान (साधु हेतु) स्वागत व उच्चासन भी देय,
स्वयं नीचे बैठना व पीछे चलना ज्ञेय/(ध्येय)।
हित-मित-प्रिय-अनुकूल वचन कथन/(आज्ञापालन),
सेवा-वैयावृत्ति-व्यवस्था उपचार विनय।। (9)

विनय है मोक्षद्वार विनय से तप ज्ञान,
विनय से रहित को न मिले तप ज्ञान।
अविनयी तो अज्ञानी-मोही व दंभी,
विनय सेवन करे ''सूरि कनकनन्दी''।। (10)

विनय का स्वरूप एवं भेद

सन्दर्भ-

विनय का स्वरूप विभिन्न ग्रंथों में निम्न प्रकार पाया जाता है-

हिताहिताप्तिलुप्यर्थं तदङ्गनां सदाञ्जसा।
यो माहात्योद्‌भवे यत्नः य मतो विनयः सताम्।। (47) (धर्मा)

हित की प्राप्ति और अहित का छेदन करने के लिए जो हित की प्राप्ति और अहित के छेदन करने के उपाय है इन उपायों को सदा छल-

कपट रहित भाव से महात्म्य बढ़ाने का प्रयत्न करना, उन उपायों की शक्ति को बढ़ाना, इसे साधुजन विनय कहते हैं।

विनय के पाँच भेद

लोकानुवृतिकामार्थभय निश्रेयसाश्रयः।
विनयःपञ्चधावश्यकार्योऽन्यो निर्जरार्थिभिः।। (48)

लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुकः।
विनयो भवहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधनः।।
उत्थानमञ्जलिः पृजाऽतिथेरासनठौकनम्।
देवपूजा च लोकानुवत्तिकृद् विनयोमतः।।
भाषाच्छन्दानुवृत्ति च प्रदान देवकालयोः।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चञ्जलिक्रिया।।
कामतन्त्रे भये चैव ह्येय विनय इष्यते।
विनयः पञ्चतो यस्तु तस्यैषा स्यात्प्ररुपणा।।

लोकानुवृतिहेतु विनय, काम हेतु विनय, अर्थ हेतु विनय, भयहेतु विनय और मोक्षहेतुविनय। व्यवहारी जनों से अनुकूल आचरण करना लोकानुवृति हेतुक विनय है। जिससे सब इन्द्रियां प्रसन्न हो उसे काम कहते हैं। जिस विनय का आश्रय काम है वह काम हेतुक विनय है। जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते है उसे अर्थ कहते हैं। अर्थमूलक विनय अर्थ हेतुक विनय है। भय से जो विनय की जाती है वह स्वार्थ हेतुक विनय है और जिस विनय का आश्रय मुमुक्षु लेता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो विनय की जाती है वह मोक्ष हेतुक विनय है। अतः जो मुमुक्षु कर्मों की निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए।

स्यात्कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यनुग्रहः।। (60) (धर्म.)

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन आदि इन्द्रियों का सर्वथा विरोध करने को या शास्त्र विहित कर्म से प्रवृत्ति करने का अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा 'च' शब्द से रत्नत्रय के साधकों पर अनुग्रह करने वाला राजाओं का यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते हैं।

यद्विनत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।

शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चत्ययं कृत्यः।। (61)

'विनय' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'नी नयते' धातु से बना है। तो ' विनेयति विनयः' । विनेयति के दो अर्थ होते हैं दूर करना और विशेषरूप से प्राप्त करना। जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है। यह विनय 'जिनवचन के ज्ञान को प्राप्त करने का फल है और समस्त प्रकार के कल्याण इस नियम से ही प्राप्त होते हैं। अतः इसे अवश्य करना चाहिए।

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याःसतां गुणाः।। (62)

आर्यता, कुलीनता आदि गुणों से युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्याय का सार अर्हद्रूप सम्पत्ति अर्थात् जिनरूप नग्नता आदि से युक्त मुनिपद धारण करना है और इस अर्हद्रूप सम्पदा का सार-अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी की शिक्षा प्राप्त करना है।

इस आर्हती शिक्षा का सार सम्यक् विनय है और इस विनय में सत्पुरुषों के द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैनी शिक्षा का सार और जैन गुणों का मूल है।

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मबिडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षाऽपि खलमैत्रीव किंफला।। (63)

जैनी शिक्षा से हीन पुरुषों का जिनलिंग धारण करना नट की तरह आत्मविडम्बन मात्र है। जैसे कोई नट मुनि का रूप धारण कर ले तो वह हंसी का पात्र होता है वैसे ही जैन धर्म ज्ञान रहित पुरुष का जिन रूप धारण करना भी है तथा विनय से रहित मनुष्य की शिक्षा भी दुर्जन की मित्रता के समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है।

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः
चतुर्धा विनयोऽवाचि पंचमोऽपि तपोगताः।। (64)

तत्त्वार्थशास्त्र के विचारकों ने दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय इस प्रकार चार भेद विनय के कहे हैं और आचार आदि शास्त्र के विचारकों ने तपोविनय का एक पाँचवा भेद भी कहा है।

दर्शनविनयः शंकाद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णावर्णाहृत्यनासदना जिनादिषु च।। (65)

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतिचारों को दूर करना दर्शन विनय है। अपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणों से उसे युक्त करना भी दर्शन विनय है तथा अर्हन्त सिद्ध आदि के गुणों में अनुराग रूप भक्ति, उनकी द्रव्य और भावपूजा विद्वानों की सभा में युक्ति के बल से जिनशासन को यशस्वी बनाना, उस पर लगाये मिथ्या लांछनो को दूर करना, उसके प्रति अवज्ञा का भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना ये सब भी सम्यग्दर्शन की विनय है।

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये।। (66)

सम्यग्दर्शन के दोषों को नष्ट करने में और गुणों को लाने में जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है और दोषों के दूर होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान में जो यत्न है वह दर्शनाचार है अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि के निर्मल करने में जो यत्न है वह विनय और उनके निर्मल होने पर विशेष रूप से अपनाना आचार है।

शुद्धव्यंजनवाच्यतातद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया।
योग्यावग्रहणधारणेन समय तद्भाजि भक्त्यापि च।।
यत्काले विहिते कृतांजलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः।
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योष्टधापीष्टदः।। (67)

शब्द अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थ गुरु आदि का नाम न छिपाकर जिस आगम का अध्ययन करता है उसके लिए जो विशेष तप बतलाया है उसे अपनाते हुए आगम में तथा आगम के ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुए स्वाध्याय के लिए शास्त्रविहीत काल में पीच्छी सहित दोनों हाथ को जोड़कर, एकाग्रचित्त से मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागम का अध्ययन चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह विनय है। उसके आठ भेद है जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फल को देने वाले हैं। मुमुक्षु को उसे अवश्य करना चाहिए।

यत्नों हि कालशुद्धयादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे सत्साधनेषु च।। (68)

काल शुद्धि, व्यजन शुद्धि आदि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है और काल शुद्धि आदि के होने पर जो श्रुत के अध्ययन में और उसके साधन पुस्तकआदि में यत्न किया जाता है वह ज्ञानाचार है अर्थात् ज्ञान के आठ अंगो की पूर्ति के लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है उनकी पूति होने पर शास्त्राध्ययन के लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है।

रुऽरुच्याहृषीगोचररतिद्वेषोज्झनेनाच्छलत्।
क्रोधादिच्छिदयाऽ सकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया।।
सामान्येतर भावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्।
धन्य साधयते चारित्रविनयं श्रेयःश्रियःपारयम्।। (69)

इन्द्रियों के रूचिकर विषयों के राग और अरुचिकर में द्वेष का त्याग कर उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया, और लोभ का छेदन करके, समितियों में बारम्बार उत्साह करके शुद्ध मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुए तथा व्रतों का सामान्य और विशेष भावनाओं के द्वारा अहिंसा आदि व्रतों को निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी की पोषक चारित्र विनय को करता है।

समित्यिादिषु यतनो हि चारित्रविनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः।। (70)

समिति आदि में यत्न को चारित्र विनय कहते हैं और समिति आदि के होने पर महाव्रतों में यत्न किया जाता है वह चारित्रचार है। आचार सार में कहा भी है-

विनयं स्याद्विनयनं कषायेन्द्रिय मर्दन।
स नीचैवृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचित्तम्।। (69)

'विनयते इति विनय' विनय को किया जाता है कषाय का और इन्द्रियों का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषों में यथा योग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते हैं।

सदृग्ज्ञानतपश्चरित्रोपचार प्रपंचकः।
तत्रदृग्विनयस्त्यागः शंकादीनाममीचते।। (70)

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय सम्यक्चारित्र विनय तपो विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार का विनय है। उसमें शंकादि दोषों का परिहार करना सम्यग्दर्शन विनय है।

शंकाऽऽकांक्षा जुगुप्साऽन्यदृक् प्रशंसनसंस्तवाः।

नाम्रोज्ञेयास्रयोन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती।। (71)

जिनेन्द्र कथित तत्त्व में संशय करना शंका है। सांसारिक भोगों की वाँछा काँक्षा है, रत्नत्रयधारी दिगम्बर तपस्वियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना अथवा भूख प्यास से पीड़ित होकर जैन तपश्चरण से ग्लानिहोना जुगुप्सा है। मन के द्वारा मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना संस्तव है। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनसे सम्यग्दर्शन मलीन होता है इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकं।

बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं।। (72)

वयः शीलश्रुतोनाधिकाधुपाध्यायकीर्तनं।

चानिन्हवेन येनायंज्ञानावरणकारणं।। (73)

स्वराक्षरपदग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिकं।

स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्षकारणम्।। (74)

ज्ञानाचार अधिकार में कथित द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढ़ना वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियों में बहुमान होना श्रुतज्ञानियों की आसादना नहीं करना, उम्र में हीन होते हुए भी शील और श्रुत में अधिक उपाध्याय आदि के गुणों का उत्कीर्तन करना जिस गुरु से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत तप आदि में हीन हो तो भी उनका नाम बताना ज्ञानावरणादि कर्मों के कारणभूत निन्हव का त्याग करना अर्थात् अपने श्रुतज्ञान को नहीं छिपाना, शब्द शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना और दोनों शब्द तथा अर्थ शुद्ध पढ़ना यह ज्ञान के विनय हैं।

आवश्यक क्रियाशक्तिर्नानोत्तर गुणोन्नतिः।

तपस्तद्वप्रमोदश्च स्यात्तपोविनयां मुनेः।। (75)

निर्दोष आवश्यक क्रियाओं का पालन करना, नाना प्रकार के उत्तर गुणों की वृद्धि करना, बारह प्रकार के तपश्चरण में और तपस्वियों में प्रमोद भाव रखना तपोविनय है।

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्यवृत्ताऽनिन्दयमुपमः।

परीषहजयादौ च चारित्र विनयोमुनेः।। (76)

चारित्र मुनिराजों के प्रति भक्ति करना व्रतियों अर्थात् जघन्य चारित्र वाले की निन्दा नहीं करना परिषह आने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना यह चारित्र विनय है।

उपोकपसृत्ययश्चार ''उपचार'' यथोचितः।

स प्रत्यक्षपरोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते।। (77)

समीप में जाकर यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते हैं।

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते।

स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम्।। (78)

गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः।

प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादि चतुष्टये।। (79)

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े होना चाहिए तथा भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिए। आचार्य के बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थान पर बैठना चाहिए। आचार्य के सामने शयन और उच्चासन को छोड़ना चाहिए। आचार्य के गमन करने पर उनके पीछे-पीछे चलना चाहिए। आचार्य के बोलने पर अनुकूल वचन बोलना चाहिए तथा आचार्य के प्रति मन में प्रमोदभाव, उनके गुणों में अनुराग होना चाहिए। आचार्य के समान ही उपाध्याय गणधर, स्थविर और प्रवर्तक का विनय करना चाहिए।

आचार्यदिष्वसत्सत्स्वेवं स्थविरस्य मुने गणे।

प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु।। (80)

आचार्य की अनुपस्थिति में स्थविर, गणधर और अन्य साधुओं में प्रतिरूप काल योग्य क्रिया करना चाहिए।

आर्यादेशसंयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया।

कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारलक्षणम्।। (81)

आर्यिका, देशसंयमी और असंयतादि में उचित सत्कार करना चाहिए। यह प्रत्यक्ष उपचार लक्षण विनय है।

ज्ञानविज्ञान सत्कीर्तिर्नतिराज्ञानुवर्त्तनं।
परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः।। (82)

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान विज्ञान का सत्कीर्तन, आज्ञा का पालन और नमस्कार यह परोक्ष विनय है।

विनयेन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षामृतश्रियः।
संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदय श्रियः।। (83)

जो तपस्वी विनयहीन है अर्थात् गुरुजनों का विनय नहीं करता उसका शास्त्राध्ययनादि मुक्ति की प्राप्ति तथा स्वर्ग श्री का कारण नहीं है।

जिनज्ञावर्तनं कीर्ति मैत्री मानापनोदनम्।
गुणानुरागिता संघसम्मदाधाश्च तद्गुणाः।। (84)

विनय से जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन होता है, जगत् में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है, सर्वजनों में मैत्री भाव प्रगट होता है, मान, कषाय का नाश होता है तथा चतुर्विध संघ विनयशील मानव पर सन्तुष्ट होते हैं इत्यादि अनेक विनय के गुण हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्ट सम्पदाम्।
रत्नत्रयीविभूषायां येन मुक्ति निबन्धन।। (85)

विशेष कहने से क्याा प्रयोजन है। विनय सर्व इष्ट सम्पदाओं का स्थान है, रत्नत्रय का भूषण है और मुक्ति का कारण हैं।

विनयफल सर्वकल्याण

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्याणं।। (भा.आ. 130)

विनय से रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल होती है। शिक्षा का फल विनय है, विनय का फल सब का कल्याण है।

विनय रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल है क्योंकि पूर्व में कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षा का फल है और उस विनय का फल सर्व कल्याण है। सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनय से मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है।

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य।। (132)

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य और सर्व संघ अपने वश में किया जाता है।

जैसे द्वार इष्ट देश की प्राप्ति का उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मों के विनाश रूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय विनय है इसलिए मोक्ष का द्वार कहा है। पूर्व में कहीं पाँच प्रकार की विनय के होने पर कर्मों से छूटकारा होता है। विनय से ही संयम होता है क्योंकि जो पाँच प्रकार की विनयों में सदा लगा रहता है वहीं असंयम को त्यागने में समर्थ होता है, जो विनयों में प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयम को ही नहीं छोड़ सकता। यदि इन्द्रियों और कषायों की ओर से विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणसंयम हो सकता है तथा ज्ञानादि विनय से शून्य अनशन आदि कर्म को नष्ट कर सकते हैं। इसलिए तप में तपपना का कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनय से तप होता है' कहा है तथा ज्ञान का कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और विनय से आचार्य तथा समस्त संघ अपने वश में हो सकता है।

आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झझा।
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च।। (132)

आचार के क्रम तथा कल्प्य गुणों को प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरों को प्रसन्न करना, ये विनय के गुण हैं।

रत्नत्रय के आचरण का कथन करने में तत्पर होने से पहले अंग को आचारांग कहते है और आचार शास्त्र में कहे गये क्रम को 'कल्प्यने' अर्थात् जो अपराध के प्रकाश 'आचारजदिकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनय के करने में आचारशास्त्र में कहे गये क्रम का प्रकाशन होता है। कल्प भी विनय को न मानने वाले साधु को दण्ड का विधान करता है अतः विनय का ही निरुपण करता है। उनके भय से साधु विनय करता है इस प्रकार कल्प के द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्ही का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते हैं।

'कल्प्यते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणों को कल्प्य गुण कहते हैं। आचार के क्रम का कल्प्य गुणों का प्रकाश आयारजीद कल्प गुण शब्द अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करने से श्रुत की अराधना और चारित्र की अराधना होती है तथा विनय होती है तथा विनय करना आत्मशुद्धि का अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणति का निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममल के विनाश से प्राप्त होता है अतः उसे आत्मा की शुद्धि कहते हैं। जैसे कीचड़ के दूर होने पर जलादि की शुद्धि होती है। 'णिज्झंझाका' अर्थ वैमनस्य का अभाव है। जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नहीं होता वह विनय हीन होता है। गुरु उस पर अनुग्रह नहीं करते। ऋजु मार्ग पर चलने को आर्जव कहते हैं और शास्त्र के कहे गये आचरण को ऋजु कहते हैं। मादर्व अर्थ अभिमान का त्याग है। दूसरे के गुणातिशय में श्रद्धा करने से और उनके माहात्म्य को प्रकट करने से तथा विनय करने से अभिमान का ह्रास स्वयं हो जाता है। जो विनीत साधु होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते हैं अतः विनय भक्ति का कारण है। प्रकृष्ट सुख को प्रल्हाद कहते हैं उसका करना प्रल्हादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरों को प्रसन्न करना विनय का गुण है। अपने को प्रसन्न करना भी विनय गुण है, क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं अतः निरन्तर दुःखी रहता है और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोक में बाधा के अभाव को ही सुख कहा जाता है।

कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो।
तित्थराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।। (133)

कीर्ति, मित्रता, मान का विनाश, गुरुजनों का बहुमान और तीर्थकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना ये विनय के गुण हैं।

यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है। विनयी की कीर्ति होती है। दूसरों को दुःख न होने की भावना मैत्री है। जो विनीत होता है वह दूसरों को दुःख देना नहीं चाहता और मान का भंग होता है।

शंका- पूर्व गाथा में मार्दव शब्द से मानभंग को कहा ही है। पुनः कहने से पुनरुक्त दोष आता है ?

समाधान-यहाँ पर के मानभंग को कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक है। दूसरों को जैसे करता देखता है स्वयं भी वैसा करता है। वे सोचते हैं- निश्चय ही अभिमान का त्याग गुण है, अन्यथा वह विनय क्यों करता ? विनय से गुरुओं का बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनों को बहुत सम्मान करता है तथा तीर्थकरों की आज्ञा का पालन होता है अर्थात् विनय का उपदेश देने वाले तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन विनय करने से होता है तथा गुरुजनों की विनय करने से उनके गुणों की अनुमोदना होती है कोई कहते हैं कि श्रद्धानादि गुणों में हर्ष प्रकट होता है। ये विनय के गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारीवाची है। विनय से पैदा होने के कारण इन्हें विनय के गुण कहते हैं।

उपवास का स्वरूप व फल

(चाल : आत्मशक्ति....)

'उपवसति आत्मनःसमिपे इति उपवास' आगम में कथित।
विषय कषाय भोजन त्यागकर, दान पूजा ध्यान करना।। (1)

केवल भोजन त्याग करना, नहीं उपवास आगम कथन।
केवल भोजन त्याग करना, लंघन/(भूखा) होता आगम कथन।। (2)

प्रोषधोपवास में होता है सप्तमी को एकासन नवमी पारणा।
अष्टमी को उपवास करके पूजा, दान व स्वाध्याय करना।। (3)

प्रासुक जल से स्नान करके मुखशुद्धि पूर्वक जिनालय जाना।
अभिषेक पूजादि करके स्वगृह में आकर आहारदान देना।। (4)

एकान्त स्थान में सामायिक करना, उपदेश सुनना मौन धरना।
गृहकार्य शृंगार नहीं करना, विकथा विसंवाद त्यागना।। (5)

रात्रि को भी धर्मध्यान करना, ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना।
प्रमाद आलस्य तंद्रा त्यागकर, रात्रि जागरण पूर्वक बिताना।। (6)

धारणा-उपवास-पारणा में, यह है उत्कृष्ट विधान। (चतुर्दशी में भी)
शक्ति अनुसार मध्यम व जघन्य, पालन करना विधेय।। (7)

दिखावा आडम्बर त्याग करके, आत्मविशुद्धि हेतु करणीय।
'इच्छा निरोध तप' होता है अतः सांसारिक कामना न करणीय।। (8)

चतुर्थ प्रतिमा से लेकर क्षुल्लक तक, प्रोषधोपवास करणीय।
श्रमण व श्रमणी हेतु प्रोषधोपवास नहीं अनिवार्य।। (9)

बाह्य तप में उपवास प्रथम तप, इसी से परे पंच बाह्यतप।
अन्तरंगतप इसी से श्रेष्ठ, अन्तरंगतप हेतु होते बाह्यतप।। (10)

अन्तरंगतपवृद्धि हेतु यदि न होते, बाह्य तप तब निष्फल।
अतः प्रायश्चित विनय वैयावृत, व्युत्सर्ग व ध्यान तप को वृद्धिकर।। (11)

बाह्यतप से अन्तरंग तप से, असंख्यात गुणी होती है कर्म निर्जरा।
शक्ति अनुसार दोनों तप करणीय, विशेषतः अन्तरंगतप आचरणीय।। (12)

दोनों तप से आत्मा को तपाकर, कर्मनाश से बनना है शुद्ध बुद्ध।
ख्याति पूजा लाभ को त्यागकर, 'कनक' तप से चाहे आत्मविशुद्धि।। (13)

सन्दर्भ-

समता में पूर्ण अहिंसा

सामायिक-श्रितानां, समस्त सावद्य योग-परिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्र मोहस्य।। (150)

Those who have attained equanimity have complete vows.because of the renunciation of all sinful activites. although their Charitra & moha-karma (which obstructs) a due pefromance of pure conduct) is in operation.

सामायिक का आश्रय करने वाले व्यक्ति के चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने पर भी महाव्रत (उपचार से) होता है। क्योंकि सामायिक में समस्त सावद्य योग का परिहार त्रिशुद्धि से होता है। सामायिक में पंच पाप का त्याग त्रिशुद्धि से होने के कारण वह श्रावक वस्त्र में वेष्टित मुनि के समान उपचार से महाव्रती जैसे प्रतीत होता है। इसलिये ऐसे निरवद्य सामायिक को अवश्य सतत करना चाहिये।

अहिंसा के लिये उपवास

सामायिक-संस्कार-प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयारपि, कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः।। (151)

To stregthen the daily practice of Samayika Discipline one muxt observe fasting twice each fortnight.

वर्तमान प्रोषध शिक्षाव्रत का कथन कर रहे हैं। दोनों ही पक्षों के आधे-आधे समय में अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास सदा करना चाहिए। सामायिक के संस्कार अनुभव को स्थिर करने के लिए विहित उपवास को प्रतिदिन करना चाहिए। सामायिक को करने के लिए पुरुषों के द्वारा प्रोषध को भी करना चाहिए।

परम आध्यात्मिक (विभाव) करूँ, जहाँ न त्याग न ग्रहण

(विभाव त्याग हेतु बाह्य त्याग अन्यथा मिथ्या)

(चाल मन रे! तू काहे...2. सायोनारा...) आचार्य कनकनन्दी

'कनक' तू विभाव त्याग करोऽऽ
विभाव त्याग हेतु बाह्य त्यागकरऽऽ स्वभाव को प्राप्त करऽऽ(ध्रुव)
स्वभाव तेरा स्व अनन्त वैभव...अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादिऽऽ
निर्मोह-निर्विकार चिदानन्दमय...अमूर्तिक अव्याबाध-आकिंचन्यऽऽ
द्रव्य भाव नोकर्म रहित चैतन्यऽऽ(1)

स्वभाव से भिन्न सभी तेरे बाह्य... राग द्वेष मोह-काम क्रोध मदऽऽ
ईर्ष्या घृणा तृष्णा व वैर विरोध...शत्रु मित्र भाई बन्धु कुटुम्बजनऽऽ
स्व तन-मन-इन्द्रिय भी बाह्यऽऽ (2)

ऐसा श्रद्धान ही तेरा सम्यग्दर्शन...तदनुकूल ज्ञान है सम्यग्ज्ञानऽऽ
तदनुकूल आचरण ही सम्यक्चारित्र...तीनों मय ही तेरा शुद्धस्वभावऽऽ
इससे परे सभी विभाव व परऽऽ(3)

स्व-स्वभाव प्राप्ति हेतु ही विभाव त्यागो...विभाव त्याग हेतु किया/(करो) बाह्य त्याग
दस विध बाह्य परिग्रह त्याग करो...पुनः उसे न स्वीकार करोऽऽ
विसर्जित मल सम न स्वीकार करोऽऽ(4)

त्याग-तपस्या व ध्यान-अध्ययन...केवल करो विभाव व पर त्याग हेतुऽऽ
इससे न राग-द्वेष मोह ममत्व करो...न करो ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व हेतुऽऽ
त्याग सहित करो आगामी प्रत्याख्यानऽऽपरलोक हेतु भी न सांसारिक
कामना(5)

सांसारिक कामना तो अप्रशस्त निदान...इससे होता सम्यक्त्व विनाशऽऽ
जिससे सभी तप-त्याग होते व्यर्थ...जिससे होता संसार भ्रमणऽऽ
अनन्त दुःखों के बने कारण ऽऽ(6)

त्याग से सांसारिक लाभ चाहना...ये है व्यापार या शिकार समऽऽ
विष त्याग बिन कांचली त्याग सम...नेता-अभिनेता या नौकर समऽऽ
द्युत या वेश्यावृत्ति के समऽऽ(7)

विभाव त्याग बिन बाह्य परिग्रह न होना...नहीं है यथार्थ से तप या त्याग ऽऽ
यथा नारकी न होते तपस्वी या त्यागी विवश से भूखे व असहाय पशु पक्षी
बगुला घडियाल अजगर न योगीऽऽविकार त्याग.. हेतु बाह्य त्यागी ही त्यागी(8)
तुझे तो तब तक त्याग करना है...जहाँ न त्याग या हो ग्रहण ऽऽ
स्वशुद्ध स्वभाव में न होता ग्रहण-त्याग...वह अव्यय-अक्षय-ज्ञानधनऽऽ
टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावमयऽऽ(9)
ऐसा तू हो विश्व के प्रभु-विभु...स्वयंभू स्वयंपूर्ण परमऐश्वर्यवानऽऽ
अतः तुझे तो स्वशुद्ध स्वभाव पाना...अन्य से कुछ न लेना देनाऽऽ
यह है परम आध्यात्मिक (विभाव) त्याग(10)

नन्दौड़ दि. 23.11.2018 रात्रि 8:42

सन्दर्भ-

अशुद्ध भाव से किया हुआ त्याग कर्मक्षय का कारण नहीं
ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स च चित्ते कहंणु कम्मक्खओ विहिदो।। (220) प्र.सार.

If there is no renunciation(obsolutely) free from (any) expectation, the monk cannot have the purication of mind; how can he effect the destruction of Karmas.when he is impure in mind ?

अब कहते हैं कि जो भावों की शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रह का त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रह का ही त्याग किया गया।

(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चागो) त्याग (णहि) यदि न होवे तो (भिक्खुस्स) साधु के (आसयविसोही ण हवदि) आशय या चित्त की विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्ध चित्ते) अशुद्ध मन के होने पर (कहंणु) किस तरह (कम्मक्खओ) कर्मो का क्षय (विहियो) उचित हो अर्थात् न हो। यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रह त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रखे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिए, तो अपेक्षा सहित परिणामों के होने पर उस साधु के चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती है। तब जिस साधु का चित्त शुद्धात्मा की भावना रूप शुद्धि से रहित होगा उस साधु के कर्मों का क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् कर्मों का नाश नहीं हो सकता है।

इस कथन से यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहर का तुष रहते हुए चावल के भीतर की शुद्धि नहीं की जा सकती है। इसी तरह विद्यमान परिग्रह में या अविद्यमान परिग्रह में जो अभिलाषा है, उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्मा के अनुभव को करने वाली चित्त की शुद्धि नहीं की जा सकती है। जब विशेष वैराग्य के होने पर सब परिग्रह का त्याग होगा तब भावों की शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि पूजा या लाभ के लिए त्याग किया जायेगा तो चित्त की शुद्धि नहीं होगी।

समीक्षा-आचार्य श्री ने इस गाथा में कौनसा बहिरंग त्याग व्यर्थ है और कौनसा बहिरंग त्याग अयथार्थ है इसका प्रतिपादन किया है। जो बहिरंग त्याग अंतरंग त्यागपूर्वक होता है वह बहिरंग त्याग यथार्थ त्याग है और जो बहिरंग त्याग अंतरंग त्यागपूर्वक नहीं होता उसे बहिरंग त्याग नहीं कहते हैं जो अंतरंग त्यागी है उसका बहिरंग त्याग अवश्य होगा ही। अंतरंग त्याग का बहिरंग त्याग के साथ अविनाभावी संबंध है परन्तु बहिरंग त्याग का अंतरंग त्याग के साथ अविनाभावी संबंध नहीं है। जिस प्रकार जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होगी ही पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम हो सकती है और नहीं भी हो सकती है उसी प्रकार अंतरंग में जो छठा, सातवाँ गुणस्थानवर्ती है वह बहिरंग में भी सम्पूर्ण परिग्रह त्यागी अवश्य होगा। परन्तु जो बाह्य में नग्न है वह अंतरंग में छठा, सातवाँ गुणस्थानवर्ती हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जिस प्रकार नारकी, पशु, पगले बच्चे बहिरंग से नंगे रहते हैं

पर अंतरंग से निर्ग्रंथ नहीं रहते हैं इसी प्रकार भव्य एवं मिथ्यादृष्टि बहिरंग से त्यागी होते हुए भी अंतरंग में ग्रंथि (परिग्रह) से युक्त रहते हैं यह निर्ग्रंथता मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर है। कुंदकुंद देव ने अष्ट पाहुड़(भाव प्राभृत) में कहा भी है-

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स।। (3) अष्टपाहुड़

भावों की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह त्याग किया जाता है। जो अंतरंग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।। (5)

भाव के अशुद्ध रहते हुए यदि कोई बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उस भाव विहीन मनुष्य का बाह्य परिग्रह त्याग क्या कर देगा ? अर्थात् कुछ नहीं।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण।। (6)

भाव को प्रमुख जानकर भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है उससे तेरा कौनसा कार्य सिद्ध होने वाला है ? हे पथिक! मोक्षनगर का मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्न से बताया है।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं।। (7)

हे सत्पुरुष! तूने भाव रहित होकर अनादि काल से इस अनंत संसार में बहुत बार बाह्य निर्ग्रंथ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है। अंतरंग त्याग बिना बहिरंग त्याग इसलिये निष्फल है कि अंतरंग परिणाम से ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष होता है। अतः परिणाम विशुद्धि के बिना बहिरंग त्याग मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर है। इतना ही नहीं, यदि प्रसिद्धि ख्याति, अहंकार, लाभ आदि दुषित भावनाओं से प्रेरित होकर कोई त्याग करता है तो उसका त्याग भी उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार विषधर सर्प काँचली तो त्याग कर लेता है परन्तु विष त्याग नहीं करता है। कुंदकुंद देव ने समसार में कहा भी है-

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि।। (206)

कोई भोगों को सेवता हुआ भी सेवन नहीं करता। (जैसे अभया रानी के चंगुल में फँसे हुए सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ-सा होकर भी वह उसका भोगने वाला नहीं होता) दूसरा कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है। जैसे कि किसी विवाह में जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नहीं होना है उस विवाह का सब काम करते हैं।

ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नही होता। जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिये कर्मों के फंदे में फँसकर नित्य नये कर्मबंध किया करता है जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि य।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। (293)

सद्दहदि ये श्रद्धान करता है, उसे पत्तेदि य ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है उसकी जानकारी प्राप्त करता है रोचेदि य विशेष रूप से विश्वास लाता है तह पुणोवि फासेदि य-तथा-उसे छूता है अर्थात् आचरण में लाता है। कौनसे धर्म को लाता है ? किं धम्मं भोगणिमित्तम्' अहमिंद्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगों का विशेष रूप के साधन है उस पुण्यरूप धर्म को भोगों की अभिलाषा से ही धारण करता है 'ण दु सो कम्मखय णिमित्त' किन्तु शुद्धात्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मों के नाश करने में निमित्त होता है उस धर्म को नहीं मानता नहीं जानता आदि।

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि ''मूढ़ व्यक्ति अंतरंग परिशुद्धि के बिना, त्याग के बिना, परिमार्जन के बिना, केवल बाह्य त्याग, बाह्य शुद्धि को ही महत्व देता है वह बाह्य त्यागादि में ही संतुष्टि कर लेता है। बहिरंग त्याग अंतरंग त्याग के लिए अंतरंग विशुद्धि के लिए होना चाहिए था परंतु उसका बाह्य त्याग अंतरंग कलुषता के लिए वृद्धि के लिए अहंकार के लिए बन जाता है ऐसे त्याग से न शारीरिक स्वास्थ्य मिलता है, न मानसिक न आत्मिक, न इहलोक सुख, न परलोक सुख।''

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।

क्वरूष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।। (46) समाधितंत्र

अंतरात्मा को अपने अनाद्यविद्या रूप भ्रांत संस्कारों पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थों को मैं इन्द्रियों के द्वारा देख रहा हूँ, वे सब तो जड़ है चेतना रहित है उन पर रोष-तोष करना व्यर्थ है- वे उसे कुछ समझ नहीं सकते और जो चैतन्य पदार्थ है वे मुझे दिखाइ नहीं पड़ते वे मेरे रोष-तोष का विषय ही नहीं हो सकते। अतः मुझे किसी से राग-द्वेष न रखकर मध्यस्थ भाव का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।

तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत कौतुकः।। (60)

मूढात्मा और प्रबुद्धात्मा की प्रवृत्ति में बड़ा अंतर होता है। मूढात्मा मोहोदय के वश महाअविवेकी होता हुआ समझाने पर भी नहीं समझता और बाह्य विषयों में ही संतोष मानता हुआ फँसा रहता है। प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्मा को अपने आत्म स्वरूप में लीन रहने मे ही आनंद आता है और इसी से वह बाह्य विषयों से अपने इन्द्रिय व्यापार को हटाकर प्रायः उदासीन रहता है।

यत्रैवाहितधीःपुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रेव लीयते।। (95)

जिस विषय में किसी मनुष्य की बुद्धि संलग्न होती है-खूब सावधान रहती है- उसी में आसक्ति बढ़कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वही चित्त लीन रहता है चित्त की लीनता ही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओं में मनुष्य को उस विषय की ओर से हटने नहीं देती-सोते में भी वह उसी के स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसी की बातें किया करता हैं।

यत्रानाहितधीः पुंसःश्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चितस्य तल्लयः।। (96)

जिस विषय में किसी मनुष्य की बुद्धि संलग्न नहीं होती भले प्रकार सावधान नहीं रहती-उसमें अनासक्ति बढ़कर श्रद्धा उठ जाती है और जहाँ से श्रद्धा उठ जाती है वहाँ चित्त की लीनता नहीं हो सकती। अतः किसी विषय में आसक्ति न होने का रहस्य बुद्धि को उस विषय की ओर अधिक न लगाना ही है बुद्धि का जितना कम

व्यापार उस तरफ किया जायेगा और उसे अहितकारी समझकर जितना कम योग दिया जायेगा उतना ही उस विषय से अनासक्ति होती जायेगी और फिर सुप्त तथा उन्मत्त अवस्था हो जाने पर भी उस और चित्त की वृत्ति नहीं जायेगी।

उत्सर्ग रूप से बाह्य धन, वैभव के साथ-साथ शरीर भी परिग्रह होने के कारण त्यजनीय है तथापि प्राथमिक अवस्था में ''शरीर माध्यम् खलु-धर्म साधनम्'' अर्थात् शरीर के माध्यम से धर्म की साधना होती है इसलिए शरीर को धर्म के साधन में एक उपकरण मात्र मानना चाहिए उसी प्रकार पिच्छी, कमण्डल, शास्त्रादि भी उपकरण रूप में ग्राह्य हैं। हीन संहनन की अपेक्षा सूखी घास, घास की चटाई, फलक (पाटा) आदि भी ग्राह्य है, परंतु इसको छोड़कर अनावश्यक राग-वर्धक वस्त्र, गद्दी तकिया, पात्र, यान, वाहन आदि समस्त परिग्रह त्यजनीय हैं क्योंकि इससे राग बढ़ता है, परिग्रह संबंधी दोष उत्पन्न होते हैं, संकल्प, विकल्प की परंपरा प्रारंभ हो जाती है, आरंभ परिग्रह जनित दोष भी लगते हैं। साधुओं को मंदिर, मठ, संस्था, धर्मशाला, मूर्ति, पंचकल्याण, प्रतिष्ठा, पूजा, विधान, रथयात्रा आदि के लिए भी न धन की याचना करनी चाहिए, न ग्रहण करना चाहिए, न संचय करना चाहिए। इसी प्रकार साधु संघ की व्यवस्था के लिए भी साधु को धन-संपत्ति का संग्रह करना, याचना करना, चंदा इकट्ठा करना सर्वथा वर्जनीय है। भाव संग्रह में भी परिग्रह रखना जैन धर्म बाह्य एवं साधुता के विरुद्ध कहा है।

दंडं दुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं वि धम्म उवयरणं।

मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुद्धो समायरइ।। (86)

वे जो लोग परिग्रह में बहुत ममत्व रखते हैं, दंड, कुंडी, वस्त्र आदि अपने काम आने वाले समस्त पदार्थों को मोक्ष के कारणभूत धर्मोपकरण मानते हैं।

इत्थी गिहत्थवग्गे तम्हि भवे चेव अत्थि णिव्वाणं।

कवलाहारं च जिणे णिद्दा तण्हा य संसइओ।। (87)

इसके सिवाय अपने गृहस्थ धर्म में रहती हुई स्त्री मोक्ष प्राप्त कर लेती है अरहंत भगवान् के निद्रा तद्रा भी होती है। इस प्रकार की मान्यता वास्तविक धर्म के विरुद्ध है।

जइ सग्गन्थो मुक्खं तित्थयरो किं मुंचहि णियरज्जे।

रयण णिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जरे रण्णो।। (88)

यदि परिग्रह के रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थकरों को अपना राज्य छोड़ने की क्या आवश्यकता थी, अनेक प्रकार रत्न तथा निधियों के छोड़ने की भी क्या आवश्यकता थी और फिर सबको छोड़कर निर्जन वन में जाने की क्या आवश्यकता थी ?

रयण णिहाणं छंडह सो कि गिण्हेहि कंवली खण्ड।
दुद्धिय दंड च पडं गिहत्थ जोग्गं जिणंपि।। (89)

यदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो तीर्थंकर निधियों को छोड़कर अन्य परिग्रह क्यों ग्रहण करते हैं ? वस्तुस्थिति यह है कि समस्त पदार्थों का त्याग निर्ग्रंथ अवस्था धारण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सग्रंथ अवस्था से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

गेहे गेहे भिक्खं पत्तं गहिऊण जाइए कि सो।
किं तस्स रयणविट्ठी धरे धरे णिवडिया तत्थ।। (90)

जिन तीर्थंकर ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए समस्त राज्य का त्याग कर मुनि अवस्था धारण की वे ही तीर्थंकर मुनि होकर भी फिर हाथ में पात्र लेकर घर-घर भोजन माँगने के लिए क्यों जाते हैं ? क्यों रत्नवृष्टि भी घर-घर बरसी थी।

ण हु एवं जं उत्तं संसयमिच्छत्तरसियचित्तेण।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो किंचण बहिरंतण चएण।। (91)

जिसका हृदय संशय मिथ्यात्व के रस से रसिक हो रहा है उसका यह सब ऊपर कहा हुआ मत ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्ष का मार्ग निर्ग्रंथ अवस्था ही है। जिसमें वस्त्र, दंड आदि समस्त बाह्य परिग्रहों का भी त्याग हो जाता है ऐसी वीतराग निर्ग्रंथ अवस्था ही मोक्ष का मार्ग है। सग्रंथ अवस्था मोक्ष का मार्ग कभी नहीं है।

परिग्रहधारी आत्मसाधक नहीं

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।। (221) प्र.सा.

(if he accepts these athings) how then is he not liable to infatuation, preliminary sin and lack of control ? Similarly when a monk is attached to external things, how will he realize his self ?

आगे आचार्य कहते हैं कि जो परिग्रहवान है उसके नियम से चित्त की शुद्धि नष्ट हो जाती है-

(तम्हि) उस परिग्रह सहित साधु में (किध) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्य की ममता से रहित चैतन्य के चमत्कार की परिणति से भिन्न मूर्च्छा (वा आरम्भो) अथवा मन वचन काय की क्रिया रहित परम चैतन्य के भाव विघ्नकारण आरंभ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहवान के शुद्धात्मा के अनुभव से विलक्षण असंयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वमि रदो) अपने आत्म द्रव्य से भिन्न परद्रव्य में लीन होता हुआ (कधमप्पाणं पसाधयदि) किस तरह अपने आत्मा की साधना परिग्रहवान पुरुष कर सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सकता है।

समीक्षा-आचार्यश्री ने अभी तक अनेक गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि परिग्रहधारी निश्चय से हिंसक है ही भले जिनसे द्रव्य हिंसा हो गई है वह भाव अहिंसक हो सकता हैं, क्योंकि द्रव्य हिंसा तो अनिच्छा पूर्वक आनुशंगिक रूप में या अशक्य अनुष्ठान से हो सकती है, परन्तु बिना अंतरंग मूर्च्छा भाव से द्रव्य परिग्रह नहीं रह सकता है। यदि ऐसे है तो यह प्रश्न हो सकता है कि तीर्थंकर के समोशरण में बाह्य विभूति चक्रवर्ती के परिग्रह से भी अधिक है तो तीर्थंकर भी मूर्च्छावान, परिग्रहधारी, हिंसक हो जायेंगे ? परन्तु तीर्थंकर को यह दोष किंचित् भी नहीं लग सकता है, क्योंकि तीर्थंकर घाती कर्म के अभाव से पूर्ण रूप से वीतराग, वीतमोही,निर्मम होते हैं। भाव मन के अभाव में व इच्छा से रहित होते हैं, परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से इन्द्र धर्मसभा के लिए समोशरण की रचना करते हैं। समोशरण में गंधकुटी में सिहांसन में जो कमल रहता है उसके भी चार अंगुल भगवान् ऊपर विराजमान रहते हैं। परिस्थिति मानो यह बताती है कि भगवान् अपने शरीर से समोशरण को स्पर्श नहीं करते हैं वैसे ही भावों से भी अनासक्त है। समोशरण की बात दूर रहे ये अपने शरीर से भी निर्ममत्व रहते हैं। इसलिये समोशरण की विभूति रहते हुए वे पूर्ण अपरिग्रहधारी हैं। समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः।। (3)

समवशरण में धर्मजिनेन्द्र यद्यपि छत्रत्रय, चौसठ चमर, सिहांसन, भामंडल, अशोकवृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन आठ प्रातिहार्यों तथा समवशरणादि विभूतियों से सुशोभित थे, तथापि, परमवीतराग होने से उन्हें इन सबसे कुछ भी रागभाव नहीं था। अथवा इनकी बात दूर रहे शरीर से भी उन्हें कुछ राग नहीं था, उससे भी वे पूर्ण विरक्त थे। राग की जड़ शरीर के राग में है, क्योंकि शरीर के राग से ही अन्य वस्तुओं में उनका राग भाव कैसे विस्तृत हो सकता था ? पूर्वसंचित भाषा वर्गणा के परमाणु समय पाकर खिरते थे उससे वे यद्यपि देव और मनुष्यो को मोक्षमार्ग का उपदेश देते थे परन्तु उपदेश देने की इच्छा नहीं रहती थी। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है तथा उसका क्षय दशम गुणस्थान में ही हो चुकता है अतः धर्मजिनेन्द्र के उपदेश देने की इच्छा का अभाव था। जो मनुष्य किसी खास इच्छा से प्रेरित होकर उपदेश देता है वह उपदेश के फल की इच्छा से निरंतर व्यग्र रहता है परन्तु धर्मजिनेन्द्र चूँकि इच्छा के बिना ही उपदेश देते थे इसलिए उन्हें उपदेश संबंधी फल की रञ्चमात्र भी इच्छा नहीं रहती थी और न इच्छाजन्य व्यग्रता ही कभी उन्हें दुःखी करती थी।

बंध एवं मोक्ष का सिद्धान्त

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्। (26) । इष्टो.

The soul involved in the delustion of egoity is enmeshed in the bondage of karmas: he who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of karma; this is the order of things: Such being the law, one should try in all possible ways to atain the pure self-contemplation devoid of the delusion of egoity.

''न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म वा। न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।।

यदैक्यमुपयोग भूसमुपयातिरागादिभिः। स एवं किल केवलं भवति बन्धहेतु नृणाम्'' ।। (नाटक समयसारकलशः)

''अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रेलोक्याधिपतिर्भवेः। योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्य परमात्मन्'' ।। आत्मानुशासनम्।

''रागी बन्धाति कर्माणि, वीतरागो विमुश्चति। जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः'' ज्ञानार्णवः

''निवृत्तिं भावयेद्यावन्निर्वृति तद्भावतः। न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं। (आत्मानुशासनम्)

यहाँ पुनः शिष्य प्रश्न करता है, हे गुरुदेव! यदि आध्यात्मयोग ये कर्म एवं आत्म का विश्लेषण अर्थात् पृथक्करण होता है तब कर्म एवं आत्मप्रदेश के संश्लेष प्रवेशरूप बंध किस उपाय से होता है ? बंधपूर्वक ही मोक्ष होता है अर्थात् बंध के प्रतिपक्षी मोक्ष है इसलिये बंध के विरोध रूप जो संपूर्ण कर्म विश्लेष रूप मोक्ष है जो कि जीव के अनंत सुख के लिये कारणभूत है जिसके लिये योगीजन भी प्रार्थना करते हैं उसका कारण बताये ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं-

ममत्व परिणाम के कारण यह जीव कर्मों को बाँधता है अर्थात् स्व आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्य चेतन-अचेतन, मिश्र रूप पर द्रव्य में जो यह मेरा है ऐसा रागरूप ममत्व अभिनिवेश है उसके कारण जीव कर्म को बाँधता है। समयसार कलश में कहा भी है-

कार्माण वर्गणाओं से भरा हुआ यह विश्व बंध के लिए कारण नहीं है और न चलन रूप कर्म कारण है, न इन्द्रियाँ कारण है,न चेतन-अचेतनात्मक पदार्थ कारण है परन्तु जो जीव का रागादि के साथ सम्बन्ध है वही निश्चय से बंध का कारण है।

इसी प्रकार ममत्व परिणाम से विपरीत निर्ममत्व परिणाम से यह जीव कर्म से मुक्त हो जाता है ऐसा क्रम यथा योग्य संयोग कर लेना चाहिये। ज्ञानार्णव में कहा भी है-

''मैं समस्त पर संयोग से रहित अकिंचन्य स्वरूप हूँ'' इस भाव से और तद्रूप परिणमन से जीव तीन लोक के अधिपति बन जाता है। वह रहस्य केवल योगीगम्य है जो कि तुम्हें बताया गया है अर्थात् अकिंचन्यरूप निर्मल/पवित्र भाव बिना कोई भी जीव उस ईश्वरत्व भाव को प्राप्त नहीं कर पाता है अथवा रागी कर्म को बांधता है, वीतरागी विमुक्त हो जाता है। यह बंध मोक्ष का संक्षिप्त कथन जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ है। इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से मन-वचन-काय प्रणिधानपूर्वक निर्ममत्व भाव को चिंतन करना चाहिये। ''मैं इस जड़ात्मक शरीर से

भिन्न निर्मल ज्योतिस्वरूप हूँ। '' ऐसा चिंतवन श्रुत ज्ञान भावना के बल पर मुमुक्षु जन को विशेषरूप से भाना चाहिये। कहा भी है-

तब तक निवृत्ति की भावना भानी चाहिये जब तक निवृत्ति सम्भव है। जहाँ पर न निवृत्ति है नहीं प्रवृत्ति है वही अव्यय अविनाशी परम पद है।

समीक्षा :-

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंध समासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। (179)

समीक्षा- आचार्य श्री ने इस गाथा में बंध एवं मोक्ष का संक्षिप्त एवं सारगर्भित कारण को बतलाया है। आसक्ति युक्त जीव बंध को प्राप्त करता है और निरासक्ति युक्त जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। केवल चारित्र मोहजनित राग ही बंध के लिए कारण नहीं है परन्तु समस्त वैभाविक भाव बंध के लिए कारण है। तथापि राग कर्म को बाँधता है ऐसा जो आध्यात्मिक शास्त्र में वर्णन पाया जाता है, उसका कारण यह है कि साम्परायिक आस्रव के लिए जो कारण हैं उसमें राग-बंध में अन्तिम कारण है। सूक्ष्म साम्पराय (10 वे गुणस्थान) के अन्तिम समय तक सूक्ष्म लोभ कषाय के कारण बंध होता है और लोभ राग है इसलिये अंतदीपक की अपेक्षा राग को बंध के लिए कारण कहा गया है परन्तु इसके पहले-पहले के प्रत्यय है मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा संज्वलन, क्रोध, मान, माया कषाय भी कर्मबंध के लिए कारण है। इसलिये राग कहने से पहले-पहले के समस्त कारण उसमें गर्भित हो जाते हैं। जीव रागरहित 10 वे गुणस्थान के अंत में हो जाते हैं। उसके बाद भी योग के कारण आस्रव एवं बंध होता है तथापि वह आस्रव एवं बंध संसार के लिये कारण नहीं है। इसलिये कहा गया है कि वीतरागी जीव कर्म से छूट जाता है तथापि सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर वीतरागी छद्मस्थ, (11 वें गुणस्थान), क्षीणकषाय (12 वें गुणस्थान) वाला जीव भी यथा-योग्य आस्रव एवं बंध को करता है परन्तु यह बंध अनन्त संसार का कारण नहीं है इसलिये इसको बंधरूप में स्वीकार नहीं किया। राग को बंध के लिये कारण इसलिये कहा है कि जहां राग होगा वहाँ द्वेष अवश्य ही होगा, क्योंकि द्वेष का 9वें गुणस्थान के अन्त में अभाव हो जाता है और 10वें गुणस्थान में लोभ (राग) का अभाव होता है। यह भी कारण है कि राग के कारण ही द्वेष उत्पन्न होता है। यदि किसी वस्तु के प्रति राग नहीं है तो द्वेष भी

उत्पन्न नहीं होगा। इसलिये जहाँ राग है वहाँ द्वेष होगा और रागद्वेष दोनों मिलकर के कर्मबंध के लिए कारण बनते हैं। ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है-

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रास्ति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्बविक्रमत्यधिकं मनः।। (25)

जहाँ राग अपने पैर को रखता है वहाँ द्वेष भी निश्चय से विद्यमान रहता है। राग और द्वेष मिलकर के मन को अधिक विक्रम बलशाली बना देते हैं जिससे कर्म बंध होता है।

क्रोध, शोक, मान, अरति, भय, जुगुप्सा ये 6 प्रकार भाव द्वेष रूप माने गये हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन सात प्रकार के भावों को राग रूप माना गया है। यानि राग और द्वेष में समस्त विकारी भावों का समावेश किया जाता है, इनसे ही कर्मबन्ध होकर संसार में भ्रमण होता है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
एसो जिणोवेदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।। (150) समयसार

जो रागी है, वह अवश्य कर्मों को बांधता ही है और जो विरक्त है, वही कर्मों से छूटता है, ऐसा यह आगम का वचन है। वह सामान्यतः राग के निमित्त से कर्म शुभ अशुभ ये दोनों है। उनको अविशेषकर बंध का कारण साधा है इसलिये उन दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।। (167)

इस आत्मा में निश्चय से जो राग द्वेष मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव है वह अज्ञानमय ही है। जैसे चुंबक पत्थर के संबंध से उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को चलाता है, उसी प्रकार वह अज्ञान आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरणा करता है तथा उन रागादि को भेद ज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है, वह ज्ञानमय है। जैसे चुंबक पाषाण के संसर्ग बिना सुई का स्वभाव चलने रूप नहीं है उसी प्रकार आत्मा को कर्म करने में उत्साह रूप स्वभाव से स्थापित करता है इसलिये रागादिको से मिला हुआ अज्ञानमय भाव कर्म के कर्तृत्व में प्रेरक है इस कारण नवीन बंध का करने वाला है तथा रागादिक से न मिला हुआ भाव ही अपने स्वभाव का प्रगट करने वाला है। वह केवल जानने वाला ही है वह नवीन कर्म

का किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है।

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा।। (98)

'मोह-सहित' अज्ञान से बंध होता है- जो अज्ञान मोहनीय कर्म प्रकृति लक्षण से युक्त है वह स्थिति अनुभागरूप स्वफलदान-समर्थ कर्मबंध का कर्त्ता है। जो अज्ञान मोह से रहित है वह (उक्त फलदान समर्थ) कर्म-बंध का कर्त्ता नहीं है और जो अल्पज्ञान मोह से रहित है उससे मोक्ष होता है, परंतु मोह सहित अल्पज्ञान से कर्मबंध ही होता है।

पहले स्त्री, पुत्र,पति, धन,शरीरादि के प्रति जो अशुभ राग है उसे त्याग करके देव,शास्त्र, गुरु,धर्म,व्रत, संयम प्रति प्रशस्त शुभराग करना चाहिये, साधना के बल पर संपूर्ण विषमताओं को त्याग करते-करते शुभराग को भी त्याग करके परम समरसी भाव में स्थिर होना चाहिये जिससे, समस्त शुभाशुभ भाव के अभाव से पाप पुण्य से भी जीव मुक्त हो जाता है।

पंचास्तिकाय में कहा भी है :-

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।

सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि। (172)

क्योंकि इस शास्त्र में मोक्षमार्ग व्याख्यान के संबंध में मोक्ष का मार्ग उपाधि रहित चैतन्य के प्रकाशरूप वीतराग भाव को ही दिखलाया है। इसलिये केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रगटतारूप कार्य समयसार से कहने योग्य मोक्ष को चाहने वाला भव्यजीव अरहंत आदि में भी स्वानुभवरूप रागभाव न करे- इस राग रहित चैतन्य ज्योतिमई भाव से वीतरागी होकर वह प्राणी संसार सागर को पार करके अनंतज्ञानादि गुणरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह संसार सागर अजर अमर पद से विपरीत है, जन्म, जरा,मरण, आदि रूप नाना प्रकार जलचर जीवों से भरा हुआ है, वीतराग परमानन्दमई एक सुख रस के आस्वाद को रोकने वाले नरकादि दुःखरूप खारे जल से पूर्ण है, रागादि विकल्पों के विषयों की इच्छा को आदि लेकर सर्व शुभ-अशुभ विकल्पजालरूप तरंगों की माला से भरपूर है, वह जिसके भीतर आकुलता रहित परमार्थ सुख से विपरीत आकुलता के पैदा करने वाली नाना प्रकार मानसिक दुःख रूप वडवानल की शिखा जल रही है।

इस तरह पहले कहे प्रकार से इस प्राभृत शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता को ही जानना चाहिये। वह वीतरागता निश्चय तथा व्यवहारनय से साध्य व साधकरूप से परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से ही होती है- बिना अपेक्षा के एकान्त से मुक्ति की सिद्धी नहीं हो सकती है। जिसका भाव यह है कि जो कोई विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमय शुद्ध आत्मतत्त्व का भले प्रकार श्रद्धान ज्ञान व चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग की अपेक्षा बिना केवल शुभ चारित्र रूप व्यवहार नय को ही मोक्षमार्ग मान बैठते है वे इस भाव से मात्र देव लोक आदि के क्लेश को भोगते हुए परम्परा से इस संसार में भ्रमण करते हैं परंतु जो ऐसा मानते हैं कि शुद्धात्मानुभूतिरूप मोक्षमार्ग है तथा जब उनमें निश्चय मोक्षमार्ग के आचरण की शक्ति नहीं होती है तब निश्चय के साधक शुभ चारित्र को पालते हैं तब वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं फिर वे परम्परा से मोक्ष को पाते हैं। इस तरह व्यवहार के एकांत पक्ष को खण्डन करने की मुख्यता से दो वाक्य कहे गये तथा एकांत से निश्चयनय का आलम्बन लेते हुए रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि रूप शुद्धात्मा का लाभ न पाते हुए भी तपस्वी के आचरण के योग्य सामायिकादि छः आवश्यक क्रिया के पालन का श्रावक के आचार तथा व्यवहार दोनों मार्गों से भ्रष्ट होते हुए निश्चय तथा व्यवहार आचरण के योग्य अवस्था से जो भिन्न कोई अवस्था उसको न जानते हुए पाप को ही बांधते हैं तथा जो शुद्धात्मा अनुभव रूप निश्चय मोक्षमार्ग की तथा उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को मानते हैं परंतु चारित्र मोह के उदय से शक्ति न होने पर यद्यपि शुभ व अशुभ चारित्र से रहित शुद्धात्मा की भावना की अपेक्षा सहित शुद्ध चारित्र को पालने वालें पुरुषों के समान नहीं होते हैं तथापि सराग सम्यक्त्व को आदि लेकर दान पूजा आदि व्यवहार में रत ऐसे सम्यग्दृष्टि होते हैं वे परम्परा से मोक्ष को पा लेते हैं। इस तरह निश्चय के एकांत को खंडन करते हुये दो वाक्य कहे हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि निश्चय तथा व्यवहार परस्पर साध्य साधकरूप से मानने योग्य हैं। इसी के द्वारा रागादि विकल्प रहित परम समाधि के बल से मोक्ष को ज्ञानी जीव पाते हैं।

महात्मा बुद्ध ने कहा भी है-

सिञ्च भिक्खु! इमं नावूं सिताते लहुमेस्सति।

छेत्वा रागञ्च, दोसञ्च ततो निव्वानमेहिसि।। (10)

भिक्षु! इस नाव को उलीचने पर वह तुम्हारे लिये हल्की हो जावेगी। राग और द्वेष को छिन्न (क्षीणकर) फिर तुम निर्वाण को प्राप्त होंगे।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं।। (36)

मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कुट-शाल्मलि वृक्ष है, काम-दुग्ध धेनु है और नंदनवन है।'

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तमामित्त च, दुष्पट्ठिय-सुपट्ठियो।। (37)

''आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है और विकर्ता भोक्ता है। सत्-प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।''

एगप्पा आजिए सत्तु कलाया इन्दियाणि य।
तेजिनित्तु जघनायां, विहरामि अहं मुनि।। (38)

''मुने! न जीता हुआ एक अपना आत्म ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु है। उन्हें जीतकर नीति के अनुसार मैं विचरण करता हूँ।''

क्रोध, मान, माया और लोभ -ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

कोध य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवडुमाणा।
चत्तारि ए ए कासिणा कसाया, सिंचंति मूलाई पुण भवस्स।।

अनिगृहित क्रोध और मान प्रवर्द्धमान माया और लोभ-ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मछवया जिणे।
माणं चाज्जवभावणे लोभं संतोसओ जिणे।

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, ऋजु भाव से माया को और सन्तोष से लाभ को जीते।

आत्मस्वरूप एवं परस्वरूप

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगोन्द्रगोचरः।
बाह्यःसंयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।। (27)

I am, one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by master ascetics: all other conditions that arise by the union of the not-self are froeign to my nature in every way!

द्रव्यार्थिक नय से मैं एक हूँ, मैं ही पूर्व परावस्था में अनुश्रुत रूप में रहने के कारण मैं एक हूँ यह मेरा है, मैं इसका हूँ इसी प्रकार अभिप्राय से शून्य होने के कारण निर्मम हूँ। शुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य कर्म, भावकर्म से निर्मुक्त होने के कारण मैं शुद्ध हूँ। स्व-पर प्रकाश होने के कारण मैं ज्ञानी हूँ। अनन्त पर्यायों को युगपत् जानने वाले केवलज्ञानी और श्रुतकेवली के शुद्धोपयोगस्वरूप ज्ञान का विषय हूँ, मैं स्वसंवेद्य के द्वारा जानने योग्य हूँ। जो द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से प्राप्त भाव तथा देह आदि है वे सर्व मेरे से सर्वथा सर्व प्रकार से बाह्य है, भिन्न है।

समीक्षा- :- इस श्लोक में आचार्य श्री ने स्वयं को अनुभव करने के/ध्यान करने के/प्राप्त करने के कुछ उपाय बनाये हैं। भले व्यवहार नय से द्रव्य कर्म आदि के संयोग से जीव में विभिन्न वैभाविक भाव तथा शरीर आदि पाये जाते हैं तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से वह आत्मा के स्वभाव नहीं है। ये सब पर संयोगज अशुद्ध भाव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा भी है-

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्मओ णाणदंसणमग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चिट्ठो सेस सव्वे खय णेमि ।। 73।।

टीका- यह मैं आत्मा हूँ सो प्रत्यक्ष अखंड, अनंत,चैतन्यभाव-ज्योति हूँ। अनादि, अनंत, नित्य, उदयरूप, आदान, अधिकरण स्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल, चैतन्य अनुभूति मात्र रूप से शुद्ध है। जिनका द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव उनकी विश्व रूपता (समस्तरूपता) उनका स्वामित्व से सदा ही

अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ। तथा वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसलिए चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है इस कारण सामान्य विशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ। ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूँ। इसलिए मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त पर द्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेष रूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होते हुए भी, उनके विरोध से इस चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादि भावों का क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज या वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भंवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित निर्मल आत्मा को अवलम्बन करता विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भीसणणरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुगईए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं, भावहि जिणभावणा जीव।। 81।। भावपा.

हे जीव! तूने भयंकर नरकगति में, तिर्यंचगति में, नीच देव और नीच मनुष्यगति में तीव्र दुःख प्राप्त किये हैं, अतः तू जिनेन्द्रप्रणीत भावना का चिंतवन कर।

सत्तसु णरयावासे, दारुणभीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं, दुक्खाइं णिरंतरं सहियाइं।। 9।।

हे जीव! तूने सात नरकावासों में बहुत कालतक अत्यंत भयानक और न सहने योग्य दुःख निरंतर भोगे तथा सहे हैं।9।।

कंदप्पमाइयाओ, पंचवि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी, पहीणदेवो दिवे जाओ।। 13।।

हे जीव! तू द्रव्यलिंगी होकर कांदपी, किल्विषिकी, संमोही, दानवी, अभियोगिकी आदि पाँच अशुभ भावनाओं का चिंतवन कर स्वर्ग में नीच देव हुआ।

पासत्थभावणाओ, अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो, कुभावणाभावबीएहिं।। 14।।

हे जीव! तूने अनादि काल से अनेक बार पार्श्वस्थ कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारी आदि भावनाओं का चिंतवन कर खोटी भावनाओं के भावरूप बीजों से दुःख प्राप्त किये हैं।।

देवाण गुण विहूई, इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं।
होऊण हीणदेवो, पत्तो बहुमाणसं दुक्खं।। 15।।

हे जीव! तूने नीच देव होकर अन्य देवों के गुण विभूति ऋद्धि तथा बहुत प्रकार का माहात्म्य देखकर बहुत भारी मानसिक दुःख प्राप्त किया है।।

चउविह विकहासत्तो, मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं, पत्तोसि अणेयवाराओ।। 16।।

हे जीव! तू चार प्रकार की विकथाओं में आसक्त होकर, आठ मदों से मत्त होकर और अशुभ भावों से स्पष्ट प्रयोजन धारण कर अनेक बार कुदेव पर्याय-भवनत्रिकमें उत्पन्न हुआ है।

यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादि से विरक्त होकर आतापन से विराजमान थे परंतु 'मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ। इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहने से केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब उनके हृदय से उक्त प्रकार का मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंतरंग की उज्ज्वलता के बिना केवल बाह्य त्याग से कुछ नहीं होता।

महुपिंगो णाय मुणी देहा हारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो, णियाणमित्तेण भवियणुव।। 45।।

हे भव्य जीवों के द्वारा नमस्कृत मुनि! शरीर तथा आहार का त्याग करने वाले मधुपिंग नामक मुनि निदानमात्र से श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए थे।।

अण्णं च वसिट्ठमुणी, पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।। 46।।

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदानमात्र से दुःख को प्राप्त हुए थे। लोक में वह निवास स्थान नहीं है जहाँ इस जीव ने भ्रमण न किया हो।

सो णत्थिं तं पएसो, चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।। 47।।

हे जीव! चौरासी लाख योनि के निवास में वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ अन्य की बात जाने दो, भावरहित साधु ने भ्रमण न किया हो।।

भावेण होइ लिंगी, ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण।। 48।।

मुनि भाव से जिनलिंगी होता है, द्रव्यमात्र से जिनलिंगी नहीं होता। इसलिए भावलिंग ही धारण करो, द्रव्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है ?

दंडअणयरं सयलं,डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू, पडिओ सो रउरवे णरये।। 49।।

बाहु मुनि जिनलिंग से सहित होने पर भी अंतरंग के दोष से दंडक नामक समस्त नगर को जलाकर रौरव नामक नरक में उत्पन्न हुआ था।

अवरो वि दव्वसवणो, दंसणवरणाणचरणपब्भट्टो।
दीवायणुत्ति णामो, अणंतसंसारिओ जाओ।। 50।।

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिंगी श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनंतसंसारी हुआ।

भावसमणो य धीरो, जुवईजणवेड्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो, परीत्तसंसारिओ जादो।। 51।।

भावलिंग का धारक धीर वीर शिवकुमार नाम का मुनि युवतिजनों से परिवृत्त होकर भी विशुद्धहृदय बना रहा और इसीलिए संसार समुद्र से पार हुआ।

अंगाई दस य दुण्णि य, चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो, ण भावसवणत्तणं पत्तो।। 52।।

भव्यसेन नामक मुनि ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ लिया तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ।।

तुसमासं घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेय य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ।। 53 ।।

यह बात सर्वप्रसिद्धि है कि विशुद्धि भावों के धारक और अत्यंत प्रभाव से युक्त शिवभूति मुनि 'तुषमाष' पदको घोकते हुए याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये।

भावेण होइ णग्गो, बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीयणियरं, णासइ भावेण दव्वेण।। 54।।

भाव से ही निर्ग्रंथ रूप सार्थक होता है, केवल बाह्यलिंगरूप नग्न मुद्रा से क्या प्रयोजन है ? कर्मप्रकृतियों का समुदाय भावसहित द्रव्यलिंग से ही नष्ट होता है।

णग्गत्तणं अकज्जं, भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर।। 55।।

जिनेंद्र भगवान् ने भाव रहित नग्नता को व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्मा की भावना कर।

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू।। 56।।

जो शरीरादि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।।

ममत्तिं परिवज्जामि, निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइं वोसरे।। 57।।

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त होकर ममता बुद्धि को छोड़ता हूँ और आत्मा ही मेरा आलंबन है, इसलिए अन्य समस्त पदार्थो का छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे संवरे जोगे।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे।। 58।।

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर और योग में आत्मा है।।

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, संजोगलक्खणा।। 59।।

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्य के संयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं- मुझसे पृथक हैं।।

भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।। 60।।

हे भव्य जीवों! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यंत पवित्र और निर्मल आत्मा की भावना करो।।

जो जीवो भावंतो, जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।
जो जरमरणविणासं, कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। 61।।

जो जीव अच्छे भावों से सहित होकर आत्मा के स्वभाव का चिंतन करता है वह जरामरण का विनाश करता है और निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

जीवो जिणपण्णत्तो, णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो, कम्मक्खयकारणणिमित्तो।। 62।।

जीव ज्ञानस्वभाववाला तथा चेतना सहित है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षय का कारण जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमतीदा।। 63।।

जिसके मन में जीव का सद्भाव है उसका सर्वथा अभाव नहीं है। शरीर से भिन्न तथा वचन के विजय से परे होते हैं।। 63।।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। 64।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है,इंद्रियों के द्वारा अग्राह्य है और आकाररहित है उसे जीव जान।।

भावहि पंचपयारं, णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ, दिवसिवसुहभायणो होइ।। 65।।

हे जीव! तू अज्ञान का नाश करने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान की शीघ्र ही भावना कर। क्योंकि ज्ञानभावना से सहित जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है।

पढिएणवि किं कीरइ, किंवा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो, सायारणयारभूदाणं।। 66।।

भय रहित पढ़ने अथवा भावरहित सुनने से क्या होता है ? यथार्थ में भाव ही गृहस्थपने और मुनिपने का कारण है।।

दव्वेण सयलणग्गा, सारयतिरिया य सयलसधाया।
परिणामेण असुद्धा, ण भावसवणत्तणंपत्ता।। 67।।

द्रव्य सभी रूप से नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचों का समुदाय भी नग्न रहता है, पंरतु परिणामों से अशुद्ध रहने के कारण भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं।। 68।।

जो नग्न जिनभावना की भावना से रहित है वह दीर्घकालतक दुःख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रय को नहीं प्राप्त करता है।।

अयसाण भायणेण य, किंते णग्गेण पावमलिगेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।।69।।

हे जीव! तुझे उस नग्न मुनिपने से क्या प्रयोजन ? जो कि अपशयका पात्र है, पाप से मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से परिपूर्ण है।।

पयडहिं जिणवरलिंगं, अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई।। 70।।

हे जीव! तू अंतरंग भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनमुद्रा को प्रकट कर धारण कर। क्योंकि भावदोष से दूषित जीव बाह्य परिग्रह के संगम में अपने आपको मलिन कर लेता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णउसवणो णग्गरूवेण।। 71।।

जो धर्म से प्रवास करता है- धर्म से दूर रहता है, जिसमें दोषों का आवास रहता है और जो ईख के फूल के समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्न रूप में रहने वाला नट श्रमण है साधु नहीं, नट है।।

जे रायसंगजुत्ता, जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं, बोहिं जिणसासणे विमले।। 72।।

जो मुनि रागरूप परिग्रह से युक्त हैं और जिनभावना से रहित केवल बाह्य रूप मे निर्ग्रंथ हैं-नग्न हैं वे पवित्र जिनशासन में समाधि और बोधि-रत्नत्रय को नहीं पाते हैं।

भावेण होइ णग्गो, मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी, पयडदि लिंगं जिणाणाए।। 73।।

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग नग्न होता है और पीछे जिनेंद्र भगवान् की आज्ञा से बाह्यलिंग- बाह्य वेषको प्रकट करता है।

भावो हि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो, तिरियालयभायणो पावो।। 74।।

भाव ही इस जीव को स्वर्ग और मोक्ष पात्र बनाता है। जो मुनि भाव से रहित है वह कर्मरूपी मैल से मलिन चित्त तथा तिर्यंच गति का पात्र तथा पापी है।।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी, लब्भइ बोही सुभावेण।। 75।।

उत्तम भाव के द्वार विद्याधर, देव और मनुष्यों के हाथों के अंजलिसे स्तुत बहुत बड़ी चक्रवर्ती राजा की लक्ष्मी और रत्नत्रयरूप संपत्ति प्राप्त होती है।।

भावं तिविहपयारं, सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।। 76।।

भाव तीन प्रकार के जानना चाहिए-शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त और रौद्र को अशुभ तथा धर्म्य ध्यान को शुभ जानना चाहिए। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।।

सुद्धं सुद्धसहावं, अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह।। 77।।

शुद्ध स्वभाव वाला आत्म शुद्ध है, वह आत्मा आत्मा ही लीन रहता है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। इन तीन भावों में जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर।

पयलियमाणकसाओ, पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो।। 78।।

जिसका मानकषाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोह के नष्ट होने से जिसका चित्त इष्ट अनिष्ट विषयों में समरूप रहता है ऐसा जीव ही जिनशासन में त्रिलोकश्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करता है।

विसयविरत्तो सवणो, छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण।। 79।।

विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन कर थोड़े ही समय में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।

बारसविहतवयरणं, तेरसकिरियाउ भावतिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर।। 80।।

हे मुनि श्रेष्ठ ! तू बारह प्रकार का तपश्चरण और तेरह प्रकार की क्रियाओं का मन वचन काय से चिंतन कर तथा मनरूपी मत्त हाथी का ज्ञानरूपी अंकुश से वश कर।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं, जिणलिंग णिम्मलं सुद्धं।। 81

जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग किया जाता है, जमीन पर सोया जाता है, दो प्रकार का संयम धारण किया जाता है, भिक्षा से भोजन किया जाता है और पहले आत्मा के शुद्ध भावों का विचार किया जाता है वह निर्मल जिनलिंग है।।

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। 85।।

रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है वह संसार समुद्र से पार होने का कारण धर्म है ऐसा श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।।

अह पुण अप्पा णिच्छदि, पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।। 76।।

जो मनुष्य आत्मा की इच्छा नहीं करता-आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं करता वह भले ही समस्त पुण्यक्रियाओं का करता हो तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है।

एएण कारणेण य, तं अप्पा सद्दहेहि तिविहेण।
जेण य लभेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। 87।।

इस कारण तुम मन वचन काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छों वि सालिसिक्थो, असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्चं।। 88।।

अशुद्ध भावों का धारक शालिसिक्थ नाम का मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरंतर आत्मा में जिनदेव की भावना कर।।

बाहिरसंगच्चाओ, गिरिसरिदरिकंदराइं आवासो।
सयलो णाणज्झयणो, णिरत्थओ भावरहियाणं।। 89।।

भावरहित मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदि में निवास और ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन यह सब व्यर्थ है।

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं, बाहिरवयवेस तं कुणसु।। 90।।

तू इंद्रियरूपी सेना को भंग कर और मनरूपी बंदर को प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रत के वेष को धारण करने वाले! तू लोगों को प्रसन्न करने वाले कार्य मत कर।।

णवणोकसायवग्गं, मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरूणं, करेहिं भत्तिं जिणाणाए।।91

हे मुनि! तू भावों की शुद्धि से नव नोकषायों के समूह को तथा मिथ्यात्व को छोड़ और जिनेंद्र देव की आज्ञानुसार चैत्य, प्रवचन एवं गुरुओं की भक्ति कर।।

तित्थरभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणदिणु अतुलं, विसुद्धभावेण सुयणाणं।। 92।।

जिसका अर्थ तीर्थंकर भगवान् के द्वारा कहा गया है तथा गणधरदेव ने जिसकी सम्यक् प्रकार से ग्रंथरचना की है, उस अनुपम श्रुतज्ञान का तू विशुद्ध भावना से प्रतिदिन चिंतन कर।।

पाऊण णाणसलिलं, णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
हुंति सिवालयवासी, तिहुवणचूडामणी सिद्धा।। 93।।

हे जीव! मुनिगण ज्ञानरूपी जल पीकर दुर्दम्य तृषारूपी प्यास की दाह और शोषण क्रिया से रहित होकर मोक्षमहल में निवास करने वाले और तीन लोक के चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।।

जह पत्थरो ण भिज्जइ, परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू वि ण भिज्जइ, उवसग्गपरीसहेहिंतो।। 95।।

जिस प्रकार पत्थर दीर्घकाल तक पानी में स्थित रहकर भी खंडित नहीं होता है उसी प्रकार उपसर्ग और परिषहों से साधु भी खंडित नहीं होता-विचलित नहीं होता।।

भावहि अणुवेक्खाओ, अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण, बाहिरलिंगेण कायव्वं।। 96।।

हे मुनि! तू अनित्यत्वत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा पंच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का चिंतवन कर। भावरहित बाह्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है ?।।

सव्वविरओ वि भावहि, णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी, चउदसगुणठाणणामाइं।। 97।।

हे मुनि! यद्यपि तू सर्वविरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानों का चिंतन कर।।

भावसहिदो य मुणिणो, पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर, भमइ चिरं दीहसंसारे।। 99।।

हे मुनिवर! भावसहित मुनिनाथ ही चार आराधनाओं को पाता है तथा भावरहित मुनि चिरकाल तक दीर्घसंसार में भ्रमण करता रहता है।।99।।

पावंति भावसवणा, कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा, णरतिरियकुदेवजोणीए।। 100।।

भावलिंगी मुनि कल्याणों की परंपरा तथा अनेक सुखों को पाते हैं और द्रव्यलिंगी मुनि मनुष्य, तिर्यंच और कुदेवों की योनि में दुःख पाते हैं।।

विणयं पंचपयारं, पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं, तत्तो मुत्तिं ण पावंति।। 104।।

हे मुनि! तू मन, वचन, कायरूप योग से पाँच दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार प्रकार के विनय का पालन कर, क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्ति को नहीं पाते हैं।।

णियसत्तिए महाजस, भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं, विज्जावच्चं दसवियप्पं।। 105।।

हे महाशय के धारक! तू भक्ति और राग से निजशक्ति के अनुसार जिनेंद्र आचार्य उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल संघ साधु और मनोज्ञ भक्ति में तत्पर करने वाला दस प्रकार का वैयावृत्त्य कर।

जं किंचि कयं दोसं, मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरूसयासे, गारव मायं च मोत्तूण।। 106।।

हे मुनि! अशुभ भाव से मन, वचन, काय के द्वारा जो कुछ भी दोष तूने किया हो, गर्व और माया छोड़कर गुरु के समीप उसकी निंदा कर।।

दुज्जणवयणचडक्कं, णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं, भावेण य णिम्मया सवणा।। 107।।

सज्जन तथा ममता से रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मलका नाश करने के लिए अत्यंत कठोर और कटुक दुर्जन मनुष्यों के वचनरूपी चपेटा को अच्छे भावों से सहन करते हैं।।

पावं खवइ असेसं, खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होई।। 108।।

क्षमा गुण से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापों को नष्ट करता है तथा विद्याधार, देव और मनुष्यों के द्वारा निरंतर प्रशंसनीय रहता है।।

सेवहि चउविहलिंग, अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं, होइ फुडं भावरहियाणं।। 111।।

हे मुनि! तू भावलिंग की शुद्धि को प्राप्त होकर केशलोंच, वस्त्र त्याग,स्नानत्याग और पींछी-कमंडलु चार प्रकार के बाह्य लिंगों का सेवन कर, क्योंकि भावरहित जीवों का बाह्यलिंग स्पष्ट ही अकार्यकर-व्यर्थ है।

जाव ण भावइ तच्चं, जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो, जरमरणविवज्जियं ठाणं।। 115।।

जब तक यह जीव तत्त्वों की भावना नहीं करता है और जब तक चिंता करने योग्य-धर्म्य-शुक्लध्यान तथा अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन नहीं करता है जब तक जरामरण से रहित स्थान मोक्ष को नहीं पाता है।।

पावं हवइ असेसं, पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। 116।।

समस्त पाप और समस्त पुण्य परिणाम से ही होता है तथा बंध और मोक्ष भी परिणाम से ही होता है ऐसा जिनशासन में कहा गया है।।

स्व शुद्धात्मा स्वभावमय परमशील गुणी बनूँ
(सुशील-कुशील के विभिन्न रूप व परिणाम)
(केवल स्थूल मैथुन त्याग(ब्रह्मचर्य) ही नहीं है शीलगुण)

(चाल-1. मन रे! तू....(2) सायोनारा....) आचार्य कनकनंदी

'कनक' तू शीलगुणों को पालोऽऽ

केवल स्थूल मैथुन त्याग ही न शील...स्व शुद्धात्मा स्वभाव ही शीलऽऽ (ध्रुव)
अठारह हजार शील प्रगट (होने) से शैलेश...अवस्था होती चौदहवें गुणस्थान मेंऽऽ
सिद्ध भगवान् तो अनन्तकाल तक...रहते स्वशुद्धात्मा स्वभावमय शील मेंऽऽ
ये शील गुण ही तेरा स्वभाव रेऽऽ(1)
जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य संतोष व सम्यग्दर्शनऽऽ
सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् तप ये...शील को परिवार कहे कुन्दकुन्द नेऽऽ
ये तेरे आत्म स्वभावमय रेऽऽ(2)
ऐसे शील हेतु मैथुन त्याग अनिवार्य...किन्तु मैथुन त्याग ही पर्याप्त/ (शील गुण)
नारकी तो स्थूल मैथुन न सेवते...तथापि वे न होते हैं शीलधरऽऽ
व न होते ब्रह्मचारी से मुनीश्वरऽऽ(3)
अतएव ब्रह्मचर्य पालन सहित ही...करो हे इन्द्रिय मन संयमऽऽ
सनम्रसत्यग्राही बनो अचौर्य पालो...जीवदया पालो व संतोषी बनोऽऽ
सम्यग्दर्शन ज्ञान व तप पालोऽऽ(4)
क्रोध मान माया लोभ रहित है शील...क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचऽऽ
संयम तपत्याग ब्रह्म आकिञ्चन्य...आत्म श्रद्धान ज्ञान चारित्र है शीलऽऽ
ईर्ष्या तृष्णा घृणा/(परनिन्दा) त्याग है शील (5)
ऐसे महान्शील परिवार है तेरे...केवल स्थूल में न अटक-भटकऽऽ
अब्रह्मचर्य में यथा अनेक पाप है...स्थूल ब्रह्मचर्य को ही शील मानना भूल
नारकी सम होते कुछ ब्रह्मचारीऽऽ(6)
शील/(ब्रह्मचर्य) के नाम पर होते अन्याय-अत्याचार...शोषण दुराचार व भेदभावऽ
प्रताड़ना-दण्ड-अपमान-बहिष्कार...आक्रमण युद्ध से हत्या-बलात्कारऽऽ
सतीदाह से ले बाल-विवाह तकऽऽ(7)
ऐसे कुगुण सहित जीव भी कुशील हैं...यथा क्रूर नारकी या दुष्ट ब्रह्मचारीऽऽ
ये सभी नैतिक-सदाचार-शांतिनाशक...संस्कृति-सभ्यता धर्म-द्रोहीऽऽ
यथा अविवाहित क्रूर हिटलरऽऽ(8)

अब्रह्मचारी भी करते हैं अनेक पाप...द्रव्यभाव हिंसा से ले परिग्रहऽऽ
फैशन-व्यसन से व्याभिचार हत्या...तनाव तलाक से आक्रमण युद्धऽऽ
बाल-विवाह भ्रूण हत्या अपहरणऽऽ(9)
इस हेतु ही आत्म स्वभावमय शीलपालोऽऽ त्यागो संपूर्ण संकीर्णता कट्टरता/ (कठोरता)
ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचर्य को पालोऽऽ बनो स्वयं परम ब्रह्ममय शैलेशऽऽ
सत्य-शिव-सुन्दर-परमेश्वरऽऽ(10)

नन्दौड़ दि. 22.11.2018 रात्रि 8:43 व 10.10

मैथुनमब्रह्म।। 16।। त.सूत्र.
मैथुन अब्रह्म है।। 16।।

चारित्रमोहनीय का उदय होने पर राग परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन कहलाता है और इसका कार्य मैथुन कहा जाता है। सब कार्य मैथुन नहीं कहलाता क्योंकि लोक में शास्त्र में इसी अर्थ में मैथुन शब्द की प्रसिद्धि है। लोक में बाल-गोपाल आदि तक यह प्रसिद्ध है कि स्त्री-पुरुष रागपरिणाम के निमित्त से होने वाली चेष्टा मैथुन है। शास्त्र भी 'घोड़ा और बैल की मैथुनेच्छा होने पर' इत्यादि वाक्यों में यही अर्थ लिया जाता है। दूसरे 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए रतिजन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुनविषयक जो चेष्टा होती है वही मैथुनरूप से ग्रहण किया जाता है, सब नहीं। अहिंसादिक गुण जिसके पालन करने पर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है। **शंका**-अब्रह्म क्या है ? **समाधान**-मैथुन में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि जो मैथुन सेवन में दक्ष है वह चर और अचर सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकार परिग्रह को स्वीकार करता है।

सीलेसि संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि।। 65 गो.जी.
शीलैश्यं संप्राप्तों, निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः।
कर्मरजोविप्रमुक्तो, गतयोगः केवली भवति।। 65।।

अर्थ-जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वाररूप आस्रव सर्वथा बन्द हो गया है। तथा सत्त्व अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है उस योगरहित केवली के चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ- आगम में शील के जितने भेद या विकल्प कहे हैं उन सबकी पूर्णता यहीं पर होती है। इसलिये वह शील का स्वामी है और पूर्ण संवर तथा निर्जरा का सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम पात्र होने से मुक्तावस्था के सम्मुख है। काययोग से भी वह रहित हो चुका है। इस तरह के जीव को ही चौदहवें गुणस्थान वाला अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ-आगम में शील के 18 हजार भेदों को अनेक प्रकार से बताया है। किन्तु उनमें से एक प्रकार जो कि श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने अपने मूलाचार के शीलगुणाधिकार में बताया है, हम यहाँ लिख रहे हैं और उसका यन्त्र भी (आगे के पृष्ठ पर) दे रहे हैं-

जोए करणे सण्णां, इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णेण्णेहि अभत्था, अट्ठारससील सहस्साइँ।। 2।।

मतलब यह है कि तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायिक आदि जीवभेद और दश उत्तम क्षमा आदि श्रमण धर्म, इनको परस्पर गुणा करने से शील के 18 हजार भेद होते हैं।

योग संज्ञा इन्द्रिय और श्रमण धर्म का अर्थ प्रसिद्ध है। अशुभकर्म के ग्रहण में कारणभूत क्रियाओं के निग्रह करने को-अर्थात् अशुभयोग प्रवृत्ति के परिहार को करण कहते हैं। निमित्त भेद से इसके भी तीने भेद है-मन, वचन, और काय। रक्षणीय जीवों के दश भेद हैं। यथा-पुढ़विद गागणिमारुद पत्तेयाणंतकायियाचेव। विगतिगचडपंचिदियभोम्मादि हबंतिं दस एदे।। 4।। अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ,प्रत्येक, साधारण वनस्पति और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।9

शील के 18 हजार भेदों का गूढ़यन्त्र

(प्रमाद के भेदों की तरह इसके भी संख्या प्रस्तारादि निकाले जा सकते हैं।)

1. इनके सिवाय शील के 18 हजार भेद निकालने ये भी चार प्रसिद्ध है।

यथा-

1. विषयाभिलाषा आदि 10 (विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीतरससेवन, संसक्तद्रव्यसेवन, शरीरांगोपाङ्गावलोकन, प्रेमी का सत्कार पुरुस्कार, शरीर संस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागत भोगकांक्षा, इष्टविषयसेवन)।

चिन्ता आदि 10(चिन्ता दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, अहारारुचि, मूर्छा, उन्माद, जीवन सन्देह, मरण)। इन्द्रिय 5 योग 3 कृतकारिता अनुमोदना ये 3, जागृत, स्वप्न ये 2, और चेतन अचेतन ये 2। सबका 10×10×5×3×2×2×2 का गुणा करना।

स्त्री 3 (देवी, मानुषी, तिरश्ची) की योग 3 कृतकारित अनुमोदना 3 चार संज्ञाएँ और इन्द्रिय 10(द्रव्येन्द्रिय 5, भावेन्द्रिय 5) तथा 16 कषाय के गुणने पर 17280 भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी 720 भेद जोड़ना। यथा-अचेतन स्त्री के 3 भेद(काष्ठ, पाषाण, चित्र) योग 2 (मन और काय) कृतादि 3 और कषाय 4 तथा इन्द्रिय भेद 10 से गुणा करने पर 720 भेद होते हैं।

3.स्त्री 4 योग 3, कृतादि 3, इन्द्रिय 5, श्रृंगारसके भेद 10, कायचेष्टा भेद 10 से गुणा करना।

सीलस्स य णाणस्स य, णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा, विसया णाणं विणासंति।। 2।। शीलप्रा.

विद्वानों ने शील के और ज्ञान का विरोध नहीं कहा है, किंतु यह कहा है कि शील के विना विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ-शील और ज्ञान का विरोध नहीं है, किंतु सहभाव है। जहाँ शील होता है वहाँ ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पंचेद्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

दुक्खेणज्जहि णाणं, णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो, विसएसु विरज्जए दुक्खं।। 3।।

प्रथम तो ज्ञान ही दुःख से जाना है, फिर यदि कोई ज्ञान को जानता भी है तो उसकी भावना दुःख से होती है, फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों में विरक्त दुःख से होता है।

ताव ण जाणदि णाणं, विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो, ण खवेइ पुराइयं कम्मं।। 4।।

जब तक विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान के बिना मात्र विषयों से विरक्त हुआ जीव पुराने बँधै हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।।

णाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो, जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।5।।

यदि कोई साधु चारित्ररहित ज्ञान का, सम्यग्दर्शन रहित लिंगका और संयमरहित तप का आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है।

भावार्थ-हेय और उपादेय का ज्ञान तो हुआ परंतु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस कामका ? मुनिलिंग तो धारण किया, परंतु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनिलिंग किस काम का ? इसी तरह तप भी किया परंतु जीवरक्षा अथवा इंद्रियवशीकरणरूप संयम नहीं हुआ तो वह तप किस काम का ? इस सबका उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है परंतु उसकी सिद्धि न होने से सबका निरर्थकपना दिखाया है।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो, थोवो वि महाफलो होइ।। 6।।

चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिंगधारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो भी वह महाफल से युक्त होता है।

णाणं णाऊण णरा, केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।। 7।।

जो कोई मनुष्य ज्ञान को जानकर भी विषयादिक भाव में आसक्त रहते हैं वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं।।

जे पुण विसयविरत्ता, णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं, तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। 8।।

किंतु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को जानकर उसका चिंतन करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा

मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त होते हैं व चतुर्गतिरूप संसार को छेदते हैं-नष्ट करते हैं इसमें संदेह नहीं है।

णाणस्स णत्थि दोसो, कापुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंते।। 10।।

जो पुरुष ज्ञान के गर्व से युक्त हो विषयों में राग करते हैं वह उनके ज्ञान का अपराध नहीं है, किंतु मंदबुद्धि से युक्त उनका पुरुषों का ही अपराध है।।

णाणेण दंसणेण य, तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरितसुद्धाणं।। 11।।

निर्दोष चारित्र पालन करने वाला जीवों को सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् तप और सम्यक्चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है।

सीलं रक्खंताणं, दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं, विसएसु विरत्तचित्ताणं।। 12।।

जो शील की रक्षा करते हैं, जो शुद्ध दर्शन-निर्दोष सम्यक्त्व से सहित हैं, जिनका चारित्र दृढ़ है और जो विषयों से विरक्तचित्त रहते हैं उन्हें निश्चित ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।।

विसएसु मोहिदाणं, कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मग्गं दरिसीणं, णाणं पि णिरत्थयं तेसिं।। 13।।

जो मनुष्य इष्ट लक्ष्य को देख रहे हैं वे वर्तमान में भले ही विषयों में मोहित हों, तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है, ऐसा कहा गया है, परंतु जो उन्मार्ग को देख रहे हैं अर्थात् लक्ष्य से भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरर्थक है।

भावार्थ-एक मनुष्य दर्शन मोहनीय का अभाव होने से श्रद्धा गुण के प्रकट हो जाने पर लक्ष्य प्राप्तव्य मार्ग को देख रहा है, परंतु चारित्र मोह का तीव्र उदय होने से उस मार्ग पर चलने के लिए असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग मिल गया, परंतु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण गंतव्य मार्ग को न देख उन्मार्ग को ही देख रहा है तो ऐसे मनुष्य का वह भारी ज्ञान भी निरर्थक होता है।

रूवसिरिगव्विदाणं, जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्मं।। 15।।

जो मनुष्य सौंदर्यरूपी लक्ष्मी से गर्वीले यौवन, लावण्य और कांति से युक्त हैं, किंतु शीलगुण से रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य, तेसु सुयं उत्तम सीलं।। 16।।

कितने ही लोग व्याकरण,छंद, वैशेषिक, व्यवहार-गणित तथा न्यायशास्त्रों को जानकर श्रुत के धारी बन जाते हैं परंतु उनका श्रुत तभी श्रुत है जब उनमें उत्तम शील भी हो।

सीलगुणमंडिदाणं, देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं, दुस्सीला अप्पिला लोए।। 17।।

जो भव्य पुरुष शीलगुण से सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय होते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शीलगुण से रहित हैं वे श्रुत के परगामी होकर भी तुच्छ-अनादरणीय बने रहते हैं।। 17।।

भावार्थ-शीलवान् जीवों की पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं, परंतु देव भी करते देखे जाते हैं। परंतु दुःशील अर्थात् खोटे शील से युक्त मनुष्यों को अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होने पर भी कोई पूछता नहीं है, वे सदा तुच्छ बने रहते हैं। यहाँ 'अल्प' का अर्थ संख्या से अल्प नहीं किंतु तुच्छ अर्थ है। संख्या की अपेक्षा तो दुःशील मनुष्य ही अधिक हैं, शीलवान् नहीं।

सव्वे वि य परिहीणा, रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं सेसु सुसीलं, सुजीविदं माणुसं तेसिं।। 18।।

जो सभी में हीन हैं अर्थात् हीन जाति के हैं, रूप से विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनकी अवस्था बीत गयी है अर्थात् वृद्धावस्था से युक्त हैं- इन सबके होने पर भी जिनके सुशील है अर्थात् जो उत्तम शील के धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजीवित है उनका मनुष्यभव उत्तम है।

भावार्थ-जाति, रूप तथा अवस्था की न्यूनता होने पर भी उत्तम शील मनुष्य के जीवन सफल बना देता है। इसलिए सुशील प्राप्त करना चाहिए।।

जीवदया दम सच्चं, अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणं, तओ य सीलस्स परिवारो।। 19।।

जीवदया, इंद्रियमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शील के परिवार हैं।।

सीलं तवो विसुद्धं, दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
सीलं विसयाण अरी, सीलं मोक्खस्स सोपाणं।। 20।।

शील विशुद्ध तप है, शील दर्शन की शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्धि है, शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।

बार एकम्मि य जम्मे, मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहिया णं, भमंति संसारकांतारे।। 22।।

विष की वेदना से पीड़ित हुआ जीव एक जन्म में एक ही बार मरण को प्राप्त होता है परंतु विषयरूपी विष से पीड़ित हुए जीव संसाररूपी अटवी में निश्चय से भ्रमण करते रहते हैं।।

णरएसु वेयणाओ, तिरिक्खए माणएसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं, लहंति विसयासता जीवा।। 23।।

विषयासक्त जीव नरकों में वेदनाओं को, तिर्यंच और मनुष्यों में दुःखों को तथा देवों में दौर्भाग्य को प्राप्त होते हैं।

तुसधम्मंतबलेण य, जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली, खवंति विसयं विसं व खलं।। 24।।

जिस प्रकार तुषों के उड़ा देने से मनुष्यों का कोई सारभूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शील से युक्त कुशल पुरुष विषयरूपी विष को खल के समान दूर छोड़ देते हैं।

भावार्थ-तुषको उड़ा देने वाला सूपा आदि तुषध्मत् कहलाता है, उसके बल से मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुषको उड़ा देता है- फेंक देता है उसी प्रकार तप और उत्तम शील के धारक पुरुष ज्ञानोपयोग द्वारा विषयभूत पदार्थों के सारको ग्रहण कर विषयों को खल के समान दूर छोड़ देते हैं। तप और शील से सहित ज्ञानी जीव इंद्रियों के विषय को खल को समान समझते हैं। जिस प्रकार इक्षुका रस ग्रहण कर लेने पर छिलका फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयों का सार जानना था सो ज्ञानी इस सारको ग्रहण कर छिलके के समान विषयों का त्याग कर देता है। ज्ञानी मनुष्य विषयों को ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परंतु उनमें

आसक्त नहीं होता।

अथवा एक भाव यह भी प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषय को दुष्ट विषय के समान छोड़ देते हैं।।

आदेहि कम्मगंठी, जावद्धा विसयरायमोहेहिं।
तं छिंदंति कयत्था, तवसंजमसीलय गुणेण।। 27।।

विषयसंबंधी राग और मोह के द्वारा आत्मा में जो कर्मों की गाँठ बाँधी गयी है उसे कृतकृत्य-ज्ञानी पुरुष तप संयम और शीलरूप गुण के द्वारा छेदते हैं।।

उदधी व रदणभरिदो, तवविणयसीलदाणरयणाणं।
सोहे तोय ससीलो, णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो।। 28।।

जिस प्रकार समुद्र रत्नों से भरा होता है तो भी तोय अर्थात् जल से ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नों से युक्त है तो भी शीलसे सहित होते ही सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ-तप विनय आदि से युक्त होने पर भी यदि मोह और क्षोभ से रहित समता परिणामरूपी शील प्रकट नहीं होता है तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इसलिए शील को प्राप्त करना चाहिए।। 28।।

जइ विसयलोलएहिं, णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरत्तपुत्तो, दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं।। 30।।

यदि विषयों के लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वों का पाठी रुद्र नरक क्यों जाता ?

भावार्थ-विषयों के लोभी मनुष्य शील से रहित होते हैं अतः ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष से वंचित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचन मातृका के जघन्य ज्ञान से भी अंतर्मुहुर्त के भीतर केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील की वीतरागभाव की कोई अद्भुत महिमा है।

जइ णाणेण विसोहो, सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दस्स पुव्विस्स य भावो, ण किं पुण णिम्मलो जादो।।31।।

यदि विद्वान् शील के बिना मात्रा ज्ञान से भाव को शुद्ध हुआ कहते हैं तो दश पूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल-शुद्ध क्यों नहीं हो गया ?

भावार्थ-मात्र ज्ञान से भाव की निर्मलता नहीं होती। भाव की निर्मलता के लिए राग,द्वेष और मोह के अभाव की आवश्यकता होती है। राग,द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाती है। इस शील से ही जीव का कल्याण होता है।

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो, डहंति पोराणयं कम्मं।। 34।।

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य से पाँच आचार पवन सहित अग्नि के समान जीवों के पुरातन कर्मों को दग्ध कर देते हैं।।

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा, विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा, सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता।। 35।।

जिन्होंने इंद्रियों को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त है, धीर हैं अर्थात् परिषहादि के आने पर विचलित नहीं होते हैं जो तप विनय और शील से सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मों को समग्ररूप से दग्ध कर सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध संज्ञा है।।

णाणं झाणं जोगो, दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य, लहंति जिणसासणे बोहिं।। 37।।

ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धि-निरतिचार प्रवृत्ति से यह सब वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन संबंधी बोधि-रत्नत्रयरूप परिणति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ-आत्मा में वीर्यगुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरूप ज्ञान, ध्यान,योग और दर्शन की शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन में बोधि-रत्नत्रय का जैसा स्वरूप बतलाया है उस रूप परिणति को प्राप्त होते हैं।।

जिणवयणगहिदसारा, विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हावा, ते सिद्धालयसुहं जंति।।38।।

जिन्होंने जिनेंद्र देव के वचनों से सार ग्रहण किया है, जो विषयों से विरक्त हैं, जो तप को धन मानते हैं, धीर वीर हैं और जिन्होंने शीलरूपी जल से स्नान किया है वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं।।

सव्वगुणखीणकम्मा, सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया, हवंति आराहणापयडा।। 39।।

जिन्होंने समस्त गुणों से कर्मों को क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुःख से रहित हैं, मन से विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरूपी धूलि को उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओं को प्रकट करने वाले होते हैं।।

बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे।
तद्वत् सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति।।11।।

स्पष्ट शब्दोच्चार करने में असमर्थ ऐसे नन्हे मुन्हे (बच्चे) के तुतलाते वचन पिता को प्यारे लगते हैं, ठीक उसी तरह (बच्चे के तुतलाते वचन की भांति) असम्बद्ध वाक्य रचना भी सज्जनों के बीच प्रसिद्ध हो जाती है। (प्रशमरति सार्थ)

ये तीर्थकृत्प्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः।
तेषा बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव।। 12।।

तीर्थंकरों के द्वारा प्रणीत जो जीव वगैरह भाव(पदार्थ) एवं उनके बाद गणधरों के द्वारा एवं गणधर-शिष्यों के द्वारा प्ररूपित जो भाव, उन भावों का पुनःपुनः अनुकीर्तन करने से ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र की पुष्टि ही होती है। (क्योंकि इस से कर्म निर्जरा और उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।) पुरुक्ति -दोष नहीं

यद्वदुपयुक्तपुर्वमपि भैषजं सेव्यतेऽर्तिनाशाय।
तद्वद्रागार्तिहरं बहुशोऽप्यनुयोज्यमर्थपदम्।। 13।।
यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति।
तद्वद्रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम्।। 14।।
वृत्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकःपुनःपुनः कुरुते।
एवं विरागवार्ताहेतुपि पुनः पुनश्चिन्त्यः।।15।।

व्याधिकृत वेदना के उपशमन हेतु विश्वसनीय औषध का सेवन प्रतिदिन किया जाता है, उसी प्रकार रागद्वेष से बन्धे हुए कर्मों के द्वारा होती हुई तीव्र-मध्यम-मन्द वेदना के अपाहार हेतु (शान्ति हेतु) अर्थ प्रधान वाक्य अनेक बार बोलना चाहिए।। (13)

जिस तरह सर्प एवं बिच्छु आदि के जहर को उतारने के लिए मन्त्रवेत्ता पुरुष ॐकार आदि मन्त्र पदों का उच्चारण बार बार करते हैं, इसमें पुनरुक्ति

(बार-बार एक ही शब्द बोलना) दोष नहीं है, उसी प्रकार रागद्वेष को नष्ट करने वाले अर्थयुक्त वाक्यों को बार-बार रटना भी दोष रहित हैं (अर्थात् वहां 'पुनरुक्ति' दोष नहीं हैं)।। (14)

जिस तहर अपने या कुटुम्ब के पालन-पोषण हेतु समुचित धन-धान्य से युक्त मनुष्य भी प्रति वर्ष खेती वगैरह कार्य करता रहता है ठीक उसी तरह, वैराग्यवार्ता के हेतुभूत अध्ययन-मनन पुनःपुनः करना उचित है। (15)

वैराग्यभावना की पुष्टि

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः।।16।।

अन्तःकरण के जिन-जिन विशिष्ट परिणामों के माध्यम से (जन्म-जरा-मृत्यु-शरीर इत्यादि की आलोचना वगैरह से) वैराग्य भावना स्थिर बनती हो, उस कार्य में मन-वचन-काया से अभ्यास-प्रयत्न करना चाहिए।

माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशमःप्रशमः।
दोषक्षयःकषायविजयश्च वैराग्यपर्याया।। 17।।

1. माध्यस्थ्य 2. वैराग्य 3. विरागता 4. शान्ति 5. उपशम 6. प्रशम 7. दोषक्षय 8.कषायविजय :- ये सब वैराग्य के पर्याय है।

राग के पर्याय

इच्छा मूर्च्छा कामःस्नेहो गार्ध्य ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि।।18।।

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द (परितोष) एवं अभिलाष ये राग के अनेक पर्याय है।

द्वेष के पर्याय

इर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिवादमत्सारासूयाः।
वैर-प्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्याया।। 19 ।।

1. ईर्ष्या 2. रोष 3. दोष 4. द्वेष 5. परिवाद 6. मत्सर 7. असूया 8. वैर 9. प्रचंड आदि द्वेष के अनेक पर्याय हैं।

जीवात्मा कषायी कब ?

रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्टया।

पञ्चाश्रवमलबहुलार्तरौद्रतीव्राभिसन्धानः।। 20।।
कार्याकार्य-विनिश्चय-संक्लेशविशोधिलाणैर्मूढः।
आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाकलिग्रस्तः।। 21।।
क्लिष्टाष्टकर्मबन्धबद्ध-निकाचितगुरुर्गतिशतेषु।
जन्ममरणैरजस्रं बहुविधपरिवर्तनाभ्रान्तः।।22।।
दुःखसहस्रनिरंतरगुरुभाराक्रान्तकर्षितःकरूणः।
विषयसुखानुगततृषःकषायवक्तव्यतामेति।।23।।

1. रागद्वेष के परिणाम से युक्त 2. मिथ्यात्व से कलुषित बुद्धि के द्वारा प्राणातिपातादिक पांच आश्रवों के माध्यम से होने वाले कर्मबन्धनों से व्याप्त 3. आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान की प्रकृष्ट अभिसन्धि (अभिप्राय) से युक्त (20)

4. कार्य (जीवरक्षादि) अकार्य (जीववधादि) के निर्णय करने में तथा क्लिष्टचित्तता एवं निर्मल चित्तता का ज्ञान करने में मूढ़ (5) आहार-भय-मैथुन-परिग्रह रूप संज्ञाओं के परिग्रह से युक्त (21)

6. सेंकड़ों गतियों में पुनःपुनः भ्रमण करने के कारण 8. कर्मों के गाढ बन्धनों से आबद्ध, निकाचित बना हुआ (अति नियंत्रित बना हुआ) एवं इनके कारण भारी बना हुआ, 7. सतत जन्म-जरा-मरण से अनेक रूपों में परिवर्तन करने से भ्रान्त (22)

8. नारक, तिर्यंच-मनुष्य और देव के भवों में हमेशा हजारों दुःखों के अतिभार से आक्रान्त (पीडीत) होने के कारण दुर्बल बना हुआ, 9. दीन बना हुआ, 10.विषय सुखों में आसक्त बना हुआ (विषय सुखों की तीव्र अभिलाषाओं से युक्त) जीव कषायवक्तव्यता को प्राप्त होता है अर्थात् क्रोधी-मानी-मायावती एवं लोभी कहलाता है। (23)

चार कषायों के विपाक

सःक्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयैःपरामृष्टः।
प्राप्नोति याननर्थान् कस्तानुद्देष्टमपि शक्तः।। 24।।

अतीव दुर्जन ऐसे क्रोध-मान-माया और लोभ से पराभूत बनी हुई आत्मा जिन-जिन आपत्तियों-अनर्थों का शिकार बनती है, उन आपत्तियों को नाममात्र से

कहने भी कौन समर्थ है ?

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघातमाप्रोति।

शाठ्यात् प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशनं लोभात्।। 25।।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय को हानि पहुंचती है, माया से विश्वास को धक्का लगता है और लोभ से सब गुणों का नाश होता है।

क्रोध का विपाक

क्रोधःपरितापकरः, सर्वस्योद्वेगकारकःक्रोधः।

वैरानुषङ्गजनकःक्रोधः,सुगतिहन्ता।। 26।।

क्रोध सब जीवों के लिए परिताप करने वाला है, सब जीवों को उद्वेग देता है, वैर का अनुबंध पैदा करता है और सुगति-मोक्ष का नाश करता है।

मान के विपाक

श्रुतशीलविनयसंदूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य।

मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ?।। 27।।

श्रुत, शील और विनय को दूषित करने वाले एवं धर्म और अर्थ काम-पुरुषार्थ में विघ्नकारक ऐसे मान को कौन विद्वान पुरुष एक पल के लिए भी अपनी आत्मा में स्थान देगा ?

माया के विपाक

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्।

सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः।।28।।

मायावी मनुष्य, चाहे मायाजनित कोई भी अपराध या गुन्हा न करता हो फिर भी स्वयं के माया-दोष से उपहत बना वो सांप की भांति अविश्वसनीय बनता है।

लोभ के विपाक

सर्वविनाशाश्रयिणःसर्वव्यसनैकराजमार्गस्य।

लोभस्य को मुखगतःक्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात् ?।। 29।।

सारे अपायों का आश्रयस्थान, सारे दुःखों का व्यसनों का मुख्य मार्ग सा जो लोभ, उसका शिकार बना हुआ कौन जीव (लोभ परिणामयुक्त) सुख प्राप्त करता है ? अर्थात् कोई नहीं।

संसार मार्ग के निर्माता

एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात्।

सत्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः।। 30।।

अर्थः- इस भांति ये क्रोध, मान, माया और लोभ जीवात्माओं के दुःख के कारणरूप होने से नरक वगैरह संसार के भयंकर मार्ग का निर्माण करने वाले हैं।

कषायों की जड़े

ममकाराहंकारावेषां मूलं पदद्वयं भवति।

रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः।। 31।।

यह क्रोधादि कषायों की जड़ में दो बाते हैं- ममकार (ममत्व) और अहंकार (गर्व) उसके ही (ममकार और अहंकार के) राग द्वेष आदि अन्य पर्याय है।

कर्म बन्ध के कारण

मायालोभकषायश्चेत्येतन्राग संज्ञितं द्वन्द्वम्।

क्रोधोमानश्च पुनद्वेष इति समास निर्दिष्टः।। 32।।

माया और लोभ का युगल राग है एवं क्रोध-मान का युगल द्वेष है, ऐसा संक्षेप में थोड़े में कहा जा सकता है।

मिथ्यादृष्टयविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम्।

तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ।। 33।।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और मन-वचन-काया के योग, ये चार उन राग द्वेष के उपकारी हैं। वे मिथ्यात्वादि से उपगृहीत राग और द्वेष, आठ प्रकार के कर्मबन्धन में निमित्त-सहायक बनते हैं।

सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहयुषां तथा नाम्नः।

गोत्रन्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधाः मौल।। 34।।

वो कर्मबन्ध मूलरूप से आठ तरह का होता है (1) ज्ञानावरण का (2) दर्शनावरण का (3) वेदनीय का (4) मोहनीय का (5) आयुष्य का (6) नाम का (7) गोत्र का और (8) अन्तराय का।

कर्मों के उत्तर भेद

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिकश्चतुःषट्कसप्तगुणभेदः।

द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरः।। 35।।

इस तरह क्रमशः पांच, नौ, दो, अठ्ठाइस, चार, बयालीस (6×7) दो और पाँच-इस तरह (आठ कर्मों के) सित्यानवें उत्तर भेद होते हैं।

कर्मबन्ध चार प्रकार से

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः।
तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदयविशेषः।।36।।

अर्थः इस तरह यह प्रकृति अनेक प्रकार की (67 प्रकार की) जिससे विशिष्ट प्रकृतिबंध होता है वो तीव्र, मन्द और मध्यम बन्ध होता है। उदय भी (प्रकृतियों का) तीव्रादि भेद वाला होता है।

योग कषायः लेश्याः

तत्र प्रदेशबन्धो योगात् तदनुभवनं कषायवशात्।
स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण।। 37।।

(चार प्रकार के कर्मबन्ध में) प्रदेश बन्ध योग (मन-वचन-काय के) से होता है। उस प्रदेशबद्ध कर्म का अनुभव कषाय के वश होता है और स्थिति का पाक विशेष (जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति का विशिष्ट निर्माण) लेश्या से होता है।

लेश्या

ताःकृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामनः।
श्लेष इव कर्मबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः।। 38।।

वे (लेश्याएँ) कष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएँ कर्मबन्ध में स्थिति का निर्माण करने वाली हैं, जैसे कि रंगों को बांधने में गोंद।

सुख और दुःख

कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वत्तिः।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे।। 39 ।।

उस कर्म के विपाकोदय से नरकादि गतियाँ होती हैं और देहनिर्माण का बीज भी यही नरकादि भवगति है। उस देह से इन्द्रियों के विषय और विषयनिमित्तक सुख और दुःख। (सुखानुभव एवं दुःखानुभव होता है।)

दुःख के कारण

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः।
यां यां करोति चेष्टा तया तया दुःखमादत्ते।। 40 ।।

दुःख का द्वेषी और सुख की लालसा वाला (जीव) मोहान्ध हो जाने से गुण या दोष नहीं देखता है, वो जो जो चेष्टाएं करता है(मन-वचन-काया की क्रिया करता है) उससे दुःख प्राप्त करता है। (दुःख की अनुभूति करता है)

इन्द्रियपरवशता के विपाक

कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोतावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति।। 41 ।।

कलायुक्त (मात्रायुक्त) रिभित (गांधर्व आवाज) एवं मधुर (ऐसे) गन्धर्व के वाजित्रों की ध्वनि और स्त्रियों के आभूषणों में से उत्पन्न होता हुआ ध्वनि आदि ऐसे मनोहारी शब्दों से श्रोत्रेन्द्रियपरवश हृदय हैं उन हिरणों की भांति **(प्रमादी) विनाश पाता है।**

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
रूपावेशितचक्षुः शलभ इव विपद्यते विवशः।। 42।।

सविकार गति, स्निग्ध दृष्टि, मुँह-छाती आदि आकार, सविलास हास्य और कटाक्ष से विक्षिप्त (मनुष्य), स्त्री के रूप में जिसने अपनी दृष्टि स्थापित की है और जो विवश बना है वो मनुष्य पतंगे की भांति जलकर नष्ट होता है।

इन्द्रियपरवशता के विपाक

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
गन्धीभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति।। 43।।

स्नान, विलेपन, (विविध) वर्णीय अगरबत्ती, अधिवास (मालती आदि फूलों की) और सुगन्धित द्रव्य-चूर्णों के गन्ध से भ्रमित (आक्षिप्त) मन वाला (मनुष्य) भ्रमर की भांति नाश पाता है।

मिष्टान्नपानमांसोदनादिमधुरविषयगृद्धात्मा।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति।। 44।।

अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन, मद्यपान, मांस, ओदन (चावल) और मधुर रस (शक्कर इत्यादि) (रसना के) इन विषयों में आसक्त आत्मा लोहयन्त्र में और तंतुजाल में फंसी हुई परवश बनी मछली की भांति मृत्यु पाती है।

शयनासनसंबंधसुरतस्नानानुलेपनासक्तः।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः।। 54।।

शय्या, आसन, अंगमर्दन, चुंबन, आलिंगनादि, स्नान-विलेपन इत्यादि स्पर्श में आसक्त स्पर्श के सुख से मोहित बुद्धिवाला मूढ (जीव) हाथी की भांति बंध जाता है।

एवमनेके दोषाः प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम्।
दुर्नियामितेन्द्रियाणां भवन्ति बाधाकरा बहुशः।। 46।।

विवेकी पुरुषों की इष्ट ऐसे ज्ञान और क्रिया (उभय-दोनों) जिनके नष्ट हो चुके हैं और दोषों में दौड़ती इन्द्रियाँ जिनकी नियंत्रित नहीं हैं, उनको इस भांति (और भी) अनेक दोष बार-बार पीडाकारी बनते हैं।

पंचेन्द्रियपरवशता

एकैकविषयसंगात्, रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते।
किं पुनरनियमितात्मा जीवः पंचेन्द्रियवशातः ?।। 47।।

एक-एक विषय के संग में राग-द्वेष से रोगी बने (हिरन वगैरह) जीव नष्ट हो चुके तो फिर पांचों इन्द्रियों को परवशता से जो व्याकुल है और जो आत्मा को नियमित नहीं रख पाते उनका क्या होगा ?

सदैव अतृप्त इन्द्रियाँ

नहि सोऽस्तीन्द्रीयविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि।
तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि।। 48।।

ऐसा कोई भी विषय नहीं है इन्द्रियों का, कि जिसका पुनःपुनः सेवन करने से हमेशा प्यासी और अनेक मार्गो में (शब्दादि विषयजन्य अनेक प्रकारों में) खूब लीन बनी हुई इन्द्रयाँ तृप्ति पाये।

शुभ-अशुभ कल्पनामात्र

कश्चिच्छुभोऽपि विषयः परिणामवशात्पुनर्भवत्यशुभः।
कश्चिदशुभोऽपि भूत्वा कालेन पुनः शुभीभवति।। 49।।

कोई इष्ट विषय भी अध्यवसाय के कारण (द्वेष के परिणाम रूप) अनिष्ट बनता है और कोई अशुभ विषय भी कालान्तर से (राग के परिणाम) से इष्ट बनता है।

कल्पना की दुनिया

कारणवशेन यद्यत् प्रयोजनं जायते यथा यत्र।
तेन तथा तं विषयं शुभमशुभं वा प्रकल्पयति।।50।।

जिन कारणों से जिस तरह जो जो प्रयोजन पैदा होते हैं, त्यों त्यों उत्पन्न हुए प्रयोजन से वो विषय को अच्छा या बुरा मानता है।

अन्येषां यो विषयःस्वाभिप्रायेण भवति तुष्टिकरः।
स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये।।51।।

दूसरों को जो विषय (शब्द, रूप वगैरह) अपने मनोपरिणाम से परितोष करने वाले बनते हैं वे ही विषय अन्य पुरुषों के लिए जो अपने मन के विकल्पों में डूबे रहते हैं, द्वेष का कारण बनते हैं।

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतीऽस्यानिष्टं न विद्यते किंचिदिष्टं वा।। 52।।

उन्हीं (इष्ट) शब्दादि विषयों का द्वेष करते हुए और उन्हीं (अनिष्ट) विषयों में तन्मय बनते हुए इस को (विषयभोगी को) परमार्थिक रूप से न तो कुछ इष्ट है और न ही अनिष्ट है।

कर्मबन्ध के मूल कारण

रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य।
नान्यःस्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति यः परत्रेह च श्रेयान।। 53।।

राग और द्वेष से उपहत (मनवाले) उसको केवल कर्मबन्ध ही होता है, इस लोक में या परलोक में, दूसरा अल्प भी गुण(उसमें) नहीं है।

यस्मिन्निंद्रियविषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम्।
रक्तो वा द्विष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य।। 54।।

इन्द्रियों के जिन विषयों में रागयुक्त या द्वेषयुक्त जीव शुभ या अशुभ चित्तपरिणाम स्थापित करता है उसको वो चित्तपरिणाम कर्मबन्ध का हेतु बनता है।

कर्मबन्ध कैसे होता है ?

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना शिल्ष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम्।। 55।।

चिकनाहट (तेल इत्यादि की) से लिप्त व्यक्ति के गात्र को ज्यों धूल चिपक जाती है वैसे राग और द्वेष से चिकनी (स्निग्ध) आत्मा को कर्म चिपकते हैं।

एवं रागद्वेषी मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव।
एभिःप्रमादयोगानुगैःसमादीयते कर्म।। 56।।

अर्थ, ऐसे राग, द्वेष, मोह मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद-योगों (मान, वचन काय के) का अनुसरण करता हुआ (जीव) कर्म ग्रहण करता है।

भवपरंपरा का मूल

कर्ममयःसंसारःसंसारनिमित्तकं पुनर्दुखम्।
तस्माद् रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम।। 57 ।।

कर्म का विकार संसार है। संसार के कारण ही दुःख है। अतः राग-द्वेषादि ही भवपरंपरा, संसार यात्रा के मूल है। ऐसा सिद्ध होता है।

कर्मजाल को तोडो

एतद्दोष महासंचयजालं शक्यमप्रमत्तेन।
प्रशमस्थितेन धनमप्युद्वेष्टयितुं निरवशेषम्।। 58।।

इन दोषों के (राग-द्वेषादि और उसके उत्पन्न होते कर्मो के) बड़े समूह, गहन ऐसी जाल का समूलोच्छेदन करना प्रमाद रहित और प्रशम में स्थिर (आत्मा) के लिये शक्य है।

आत्मसाधक की तेरह विशेषताएं

अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य।
दर्शनचारित्रतपःस्वाध्यायध्यानयुक्तस्य।। 51।।
प्राणवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य।
नवकोट्युद्धमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य।। 60।।
जिनभाषितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्वस्य।
अष्टादशशीलांगसहस्रधारिणः कृतप्रतिज्ञस्य।। 61।।
परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य।
अन्योन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यतः समये।। 62।।
वैराग्यमार्गसंस्थितस्य संसारवासचकितस्य।
स्वहितार्थाभिरतमतेः शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता।। 63।।

इसका (दोष समूह के जाल का) मूल कारण जानकर (1) उसके उच्छेदन हेतु उद्यत बने हुए को, (2) दर्शन, चारित्र तप-स्वाध्याय और ध्यान से युक्त को, (51)

(3) हिंसा-असत्यवचन-परधनहरण-मैथुनसेवन और परिग्रह से विरक्त को (4) नवकोटि शुद्ध, उद्गम शुद्ध और उंछवृत्ति से यात्रा का (संयममात्रा का) जिन्हें अधिकार है उनको, (60)

(5) जिन कथित अर्थ के सद्भाव से भावित होने वाले को (6) लोकपरमार्थ के ज्ञाता को (7) अट्ठारह हजार शीलांग के धारक एवं उसका पालन करने की जिन्होंने प्रतिज्ञा ली है उनको, (61)

(8) अपूर्व परिणाम (मन के) प्राप्त करने वाले को, (9) शुभ भावनाओं (अनित्यादि एवं पांच महाव्रतों की वगैरह) के अध्यवसाय वालों को, (10) सिद्धान्त में परस्पर एक दूसरे से विशेष (श्रेष्ठ) के भावज्ञान से देखने वालों को(62)

(11) वैराग्य मार्ग में रहे हुए को, (12) संसारवास से त्रस्त बने हुए को (13) स्वहितार्थ मुक्तिसुख में जिनकी बुद्धि अभिरत है उनको-यह शुभ चिन्ता पैदा होती है। (63)

उत्तम शौच धर्म

(चाल : छिप गया कोई रे...., आत्मशक्ति....)

शौच धर्म महान् है लोभी नहीं पालते....निस्पृह संत उत्तम..शौच धर्म पालते...
आंशिक शौच-धर्म-श्रावक श्रेष्ठ पालते...कषाय मद रिक्त मुनि..पूर्ण शौच पालते...(स्थायी)...

शुचिता-पवित्रता व निर्लोभ-निस्पृह...आसक्ति रिक्त वीतराग...कामना रहित...
ख्याति पूजा लाभ निदान बंध रिक्त...शौच धर्म होता...आत्मशुद्धि सहित...
तीन शल्य चार गारव फैशन-व्यसन...ईर्ष्या तृष्णा मात्सर्य व अशुभ चिंतन...
आर्त्त-रौद्र ध्यान त्याग से होता शौच धर्म...बगुला सम सफेद से न होता शौच धर्म...(1)...

आत्म श्रद्धा-प्रज्ञा व..मनन-चिंतन से...ध्यान-अध्ययन..अनुप्रेक्षा-भावना से...
आत्म विश्लेषण व आत्म परिशोधन से..प्रगट होता शौच धर्म..निर्मल आत्मा से..
ढोंग-पाखण्ड-आडम्बर...दिखावा-दंभ से...परनिंदा-अपमान-संक्लेश-द्वंद्व से...
संकल्प-विकल्प व...तनाव-चिंता से...शौच धर्म असंभव है... अज्ञान-मोह से...(2)...

शौच धर्म आत्मा का है...शुद्ध परिणाम...शुद्ध-बुद्ध आनंद का...प्रकृष्ट सोपान...
शुचिता से आध्यात्मिक...शांति/(शक्ति) बढ़ती...तन-मन-आत्मा की...
निरोगता बढ़ती...
परम आराध्य यह...परम शौच धर्म...आत्म-स्वभाव यह...आध्यात्मिक धर्म...
अनंत सुख वैभव प्राप्ति का...उत्तम मार्ग...'कनकनन्दी' सेवन करे उत्तम
शौच धर्म...(3)...

उत्तम तप धर्म

(चाल: छिप गया कोई रे....)

तप धर्म महान् है, ज्ञानी-ध्यानी सेवते, रागी-द्वेषी-कामी-क्रोधी-स्वार्थी न सेवते।
इच्छा निरोध तप अतः होता उत्तम, इससे भिन्न तप से होता पतन।। (1)

अंतरंग-बहिरंग तप द्विविध, प्रत्येक के होते (है) छःछः अंतर्भेद।
अंतरंग तप हेतु बाह्य है कारण, अंतरंग तप रिक्त बाह्य से पतन।। (2)

उपवास है आत्मा की उपासना करना, (चतुर्विध) भोजन त्याग सह राग-द्वेष त्यागना।
गृहस्थ (हो तो) कामभोग गृहकार्य त्यागता, पूजादान स्वाध्याय से आत्मशुद्धि करता।। (3)

अवमौदर्य (में) भूख से कम भोजन करना, वृत्तिपरिसंख्यान (में) भोजन तृष्णा त्यागना।
रसपरित्याग में रस तृष्णा त्यागना, विविक्त शय्यासन में एकांतवास करना।।(4)

आत्म साधना हेतु कायक्लेश सहना, दोष परिहार हेतु प्रायश्चित्त करना।
पूज्य पुरुषों के प्रति विनय भाव करना, श्रमण संघ के विविध वैयावृत्त करना।। (5)

स्व-अध्ययन हेतु आगम ग्रंथ पढ़ना, व्युत्सर्ग (में) शरीरादि से मोह त्याग करना।
ध्यान में चित्त को एकाग्र करना, तप से होती है कर्मों की निर्जरा।। (6)

श्रद्धा-प्रज्ञा-सहित दोनों तप श्रेय, अंतरंग तप हेतु बाह्य तप ग्राह्य।
बाह्य से अंतरंग तप अत्यंत श्रेष्ठ,आत्मविशुद्धि होने से अंतरंग ज्येष्ठ।। (7)

ख्याति पूजा-लाभ व अज्ञान मोह सह, तप न उत्तम है जो संक्लेश सह।
समता-शांति-निस्पृहता उत्तम तप, आत्मोपलब्धि हेतु 'कनक' करे तप।।(8)

ध्यान की आत्मकथा

(अशुभ-शुभ व शुद्ध ध्यान-गुणस्थानों में ध्यान)

(चालः पूछ मेरा क्या नाम रे....)

ध्यान मेरा नाम है, एकाग्रचित्त काम है।
अशुभ-शुभ शुद्ध रूप में, तीन प्रमुख भेद हैं।।
एकेन्द्रिय से सर्वज्ञ तक, मेरा अस्तित्व होता है।
मेरा भेद-प्रभेद संख्यात से, असंख्यात लोक प्रमाण है।।
मिथ्यादृष्टि को होता मेरा अशुभ रूप, जो आर्त्त-रौद्र स्वरूप है।
एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय, चारों गति के जीव में होता है।।
आर्त्त-रौद्र रूप मेरा अशुभ रूप, उक्त जीवों में अवश्य होता है।
आर्त्त रूप में मेरा अवस्थान, छठें गुणस्थान तक होता है।।
रौद्र रूप में मेरा अवस्थान, पंचम गुणस्थान तक होता है।
बिना मन के भी असंज्ञी जीव तक, आर्त्त-रौद्र तक होता है।।
इष्ट-वियोग-अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतन-निदान बंध।
इस संबंधी जो होता दुःखमय, चिंतन वह होता आर्त्त-ध्यान।।
हिंसानंदी-मृषानंदी-चौर्यानंदी व परिग्रहानंदी रौद्र ध्यान।
क्रूर व अयोग्य काम में जो सतत चिंतन वह होता है रौद्र ध्यान।।
शुभ रूप मेरा धर्म ध्यान आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान विचय।
चतुर्थ गुणस्थान से लेकर, सप्तम गुणस्थान तक होता धर्म ध्यान।।
संज्ञी पचेन्द्रिय चारों गति के, जीव हो सकते है सम्यग्दृष्टि।
संज्ञी पशु-पक्षी व मानव तक, हो सकते पंचम गुणस्थानवर्ती।।
षष्ट-सप्तम गुणस्थान में, होती केवल मनुष्य गति।
सर्वज्ञ की आज्ञा का चिंतन करना होता आज्ञाविचय ध्यान।।

चतुर्गति जीवों के दुःखों का, चिंतन करना होता अपायविचय।
विपाकविचय में होता कर्मफल भोगने का एकाग्र चिंतन।
संस्थानविचय में होता विश्व संरचनादि का एकाग्र चिंतन।
सातिशय सप्तम गुणस्थान से, होता है मेरा शुद्ध रूप।
श्रेष्ठ आत्म ध्यानी चतुर्थ काल के, श्रमण के होता शुक्ल ध्यान।।
पृथकत्ववितर्क विचार व एकत्व वितर्क अविचार मेरा प्राथमिक रूप।
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति व्यपरत क्रिया निर्वृति मेरा उत्तर रूप।।
प्रथम शुक्लध्यान होता, अपूर्वकरण से क्षीण मोह गुणस्थान तक।
द्वितीय शुक्लध्यान होता, उपशांत कषाय व क्षीण कषाय स्थित।।
तृतीय शुक्लध्यान होता, सयोगी गुणस्थान स्थित।
चतुर्थ शुक्लध्यान होता, अयोगी गुणस्थान स्थित।।
इससे परे होता है सर्व कर्मक्षय स्वरूप परम मोक्ष।
यहाँ न होता है मेरा सद्भाव, यहाँ होता है शुद्ध चिन्मय।।
अशुभ त्याग से मेरा प्रकट होता है शुभ स्वरूप।
शुभ से शुद्ध ध्यान होता, जिससे मिलता है मोक्ष।।
अशुभ से पाप व शुभ से पुण्य तथा शुक्ल से मोक्ष।
अशुभ त्याग बिन न शुभ होता, अतः न शुक्ल व मोक्ष।।
मेरा यह स्वरूप सर्वज्ञ कथित अज्ञानी मोही से न ज्ञात।
'कनक सूरी' ने मेरा वर्णन किया जो आगम में वर्णित।।

समता V/S ध्यान

(समता बिन सुध्यान असंभव, सुध्यान से समता वर्द्धमान)

(चालः आत्मशक्ति....)

मोह क्षोभ रहित होती है समता, जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।
एकाग्र चिंता निरोध होता ध्यान, जो छद्मस्थों में ही संभव है।।
अंतर्मुहूर्त तक होता है ध्यान, समता अनंतकाल तक संभव है।
परस्पर उपकारी होते दोनों ही, तो भी समता व्यापक है।।
अशुभ शुभ शुद्ध होता है ध्यान समता होती शुभ व शुद्ध।

एकेंद्रिय/(मिथ्यादृष्टि) से चौदह गुणस्थान में ध्यान, सामायिक/(प्रतिमा) से सिद्ध तक सामायिक।। (1)

सतत समताधारी होते श्रमण, जीविय मरणे लाहालाह में।
संयोग-वियोग व शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में निंदा-प्रंशसा में।।
समता से च्यूत होने पर वे, करते है छेदोपस्थापना सदा।
प्रतिक्रमण से ले प्रायश्चित तक, यह होता शुभोपयोग चारित्र ।। (2)

समता की वृद्धि करने हेतु वे, करते हैं संध्याकाल में ध्यान।
ध्यान बुद्धि से समता भी बढ़ता, समता वृद्धि से बढ़ता है ध्यान।।
दोनों की वृद्धि से शुभ भाव बढ़े, जिससे गुणस्थानों की होती वृद्धि।
श्रेणी आरोहण से शुद्ध भाव प्रारंभ (प्रगट), शुक्लध्यान की भी होती उत्पत्ति।। (3)

बारहवें गुणस्थान के अंत/(में) तक, होता शुक्लध्यान परम उत्कृष्ट।
तेरहवें गुणस्थान में होता केवलज्ञान, यहाँ से न होता है यथार्थ ध्यान।।
घाती रहित भावमन रहित से, न संभव एकाग्रचिंता निरोध।
जिससे यहाँ से न होता यथार्थ ध्यान,उपचार से अविहित होता ध्यान।। (4)

परन्तु यहाँ से लेकर सिद्ध पर्यंत होती है परम समता सदा।
आत्म स्वभाव होता है समतामय, अतः परम समता रहती सर्वदा।।
समता बिन न शुभ-शुक्लध्यान, समता बिना न है परम धर्म।
समता हेतु सभी धर्म आराधना, 'कनकनंदी' का परम आत्मधर्म।। (5)

उत्तम त्याग धर्म

(चालः छिप गया कोई दे....)

त्याग धर्म महान् है..मोही नहीं सेवते, निर्मोही ज्ञानी साधु...त्याग धर्म सेवते।
सद्गृही आंशिक त्याग धर्म पालते, दान-दयादत्ति रूप में त्याग धर्म पालते।।(1)

चौबीस परिग्रह त्याग कर बनते श्रमण, सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि--भोग-निदान।
ख्याति पूजा लाभ व गृहस्थों के काम, आरंभ-उद्योग-विरोध-त्यागते श्रमण।।(2)

क्रोध-मान-माया-लोभ-त्याग करते, क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच पालते।

हिंसा-झूठ-चोरी कुशील-परिग्रह-त्यागते,अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्म-
अपरिग्रह सेवते।। (3)

संयम-तप-त्याग व ध्यान-अध्ययन, समता-शांति से करते आत्मशोधन।
आत्मविशुद्धि से करते आत्मविकास,गुणस्थान आरोहण से बनते सिद्ध।।(4)

श्रावक पालते दान रूपी त्याग धर्म, आहार-औषधि-ज्ञान-वसतिका दान।
पिच्छी-कमण्डल-उपकरण पाटा-चटाई, असहाय जीव हेतु देते दयादत्ति।।(5)

तन-मन-धन व समय-शक्ति से, दान दया सेवा करते भाव से।
जिससे सातिशय पुण्य करते अर्जन, परंपरा से वे पाते स्वर्ग व निर्वाण।।(6)

त्याग से ही मानव बनते महान्/(भगवान्), त्याग बिना मानव दानव समान।
त्याग करो या दान-दयादत्ति करणीय, निर्वाण प्राप्ति हेतु 'कनक' पाले
त्याग।। (7)

दान V/S त्याग

(दान से भी महान् त्याग, दान आंशिक होता है तो त्याग संपूर्ण)

(चाल: छिप गया कोई रे....)

दानधर्म महान् है, त्याग (धर्म) दान से भी महान्।
आंशिक होता दान, त्याग होता संपूर्ण।। (ध्रुव)
गृहस्थ करते दान तो साधु करते त्याग।
दान से बनते तो दानी, त्याग से बनते मुनि।।
आहार औषधि ज्ञान-उपकरण (वसतिका) अभय होता दान।
दीन-दुःखी-रोगी हेतु, गृहस्थ करे दयादत्ति दान।। (1)

त्याग से बहिरंग दशविध, परिग्रह करते विसर्जन।
अंतरंग चतुर्दश परिग्रह, त्याग करते श्रमण।।
किमिच्छकदान जो चक्रवती भी करते।
उनसे भी महान् होते, जो साधु बनते।। (2)

त्याग बिन जो गृहस्थ, मात्र दान-पुण्य करते।
सांसारिक सुख पाते किन्तु मोक्ष प्राप्त न करते।।

निस्पृह त्यागी मुनि जो आत्मध्यान करते।
गृहस्थ सम दान बिन भी स्वर्ग-मोक्ष पाते।। (3)
इस हेतु दानी चक्री भी, त्यागी मुनि बनते।
दान पूजा मंदिर मूर्ति निर्माण बिना (स्वर्ग)/मोक्ष जाते।।
अतः दानी चक्री भी, मुनि को श्रेष्ठ मानते।
उनकी सेवा भक्ति (वंदना) कर, स्व को धन्य मानते।। (4)
दानी न होते गुरु भले वे (दानी) चक्री भी क्यों न होते।
निस्पृह अपरिग्रह मुनि, दान बिन भी (पूज्य) गुरु होते।।
ऐसे गुरु ही त्रैलोक्य पूज्य, पंचपरमेष्ठी बनते।
धर्मतीर्थ प्रवर्तन भी ऐसे गुरुओं से ही होते।। (5)
दान तीर्थ प्रवर्तन भले, दानी गृहस्थों से होते।
किन्तु धर्म तीर्थ प्रवर्तन बिन मोक्ष कोई न पाते।।
अतः निस्पृह निराडंबर ज्ञानी/(ध्यानी) मुनि श्रेष्ठ होते।
अतः ' सूरी कनक' निस्पृह निराडंबर (से) ध्यान करते।। (6)

उत्तम संयम धर्म

(चाल : छिप गया कोई रे...., आत्मशक्ति....)

संयम धर्म महान् है धीर-वीर पालते, अज्ञानी भोगी संयम न पालते।
संयम से अभ्युदय-मोक्ष सुख मिलते, असंयम से इह-परलोक में दुःख मिलते।।
तन-मन-वचन व इन्द्रिय नियंत्रण, कषाय निग्रह त्रस स्थावररक्षण।
इच्छा निरोधमय तपस्या आचरण, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह विसर्जन।।
संयम से आत्मानुशासन बढ़ता, संयम से मर्यादा-परिपालन होता।
विविध प्रकार संकट इससे टलते, इहलोक-परलोक दुःख दूर होते।।
कार का यथा ब्रेक करता है काम, आदर्श जीवन हेतु संयम (का) तथा काम।
ब्रेक के बिना यथा कार है बेकार, संयम बिना तथा जीवन बेकार।।
ज्ञान है प्रकाश तथा चर्या है गमन, संयम होता नियंत्रण ब्रेक के समान।
इससे मोक्षमार्ग में होता निर्विघ्न गमन,रेल की पटरी में यथा रेल का गमन।।

संयम बिना बाह्य तप त्यागादि व्यर्थ, तन-मन-इन्द्रिय आत्मा होते अस्वस्थ।
आत्मिक-शुद्धि व शक्ति हो जाती क्षीण,अस्त-व्यस्त-संत्रस्त हो जाता जीवन।।
गृहस्थों को (भी) यथायोग्य संयम पालनीय फैशन-व्यसन आडंबर त्यजनीय।
समय-शक्ति-बुद्धि-साधन-उपकरण, नहीं करणीय कभी दुरुपयोग भी धन।।
श्रमणों को तो सदा संयम-पालनीय, ख्याति-पूजा-लाभ व लंद-फंद त्यजनीय।
परनिंदा-अपमान-वैर-विरोध त्याज्य,संकल्प-विकल्प व संक्लेश-द्वंद्वादि त्याज्य।।
ध्यान-अध्ययन व मनन-चिंतन, आर्त्त-रौद्र परे समता-निस्पृहता मौन।
आत्मविशुद्धि में श्रमण रहते लवलीन, संयम से मोक्ष चाहे 'कनक' श्रमण'।।

मेरा परम अस्तित्व/(सत्य)
(उत्तम आंकिचन्य धर्म)

(चाल : आत्मशक्ति...., सायोनारा....) आचार्य कनकनंदी जी

द्रव्य स्वभाव है स्वयंभू-स्वतंत्र, अनादि अनिधन व मौलिक
अनंत गुण पर्याय सहित, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त।।
धर्म-अधर्म आकाश काल, अनादि से स्वभाविक विशुद्धि।
जीव-पुद्गल ही होते अशुद्ध, आत्म साधना से जीव बनते शुद्ध।। (1)

शुद्ध जीव कभी भी अशुद्ध न होते, पुद्गल शुद्ध-अशुद्ध होते रहते।
मैं हूँ जीव द्रव्य अभी अशुद्ध, शुद्ध होने हेतु मैं प्रयासरत।।
भले मैं हूँ अभी अशुद्ध रूप में, द्रव्य भाव नोकर्म संयुक्त से।
तथापि मैं तीनों कर्ममय नहीं, व्यवहार से मैं लिप्त कर्मों से।। (2)

परम निश्चय से मैं शुद्ध हूँ, व्यवहार से मैं अशुद्ध हूँ।
स्व-स्वपक्ष से दोनों नय सत्य, तथापि मैं तो नयातीत हूँ।।
बंध-अबंध व शुद्ध-अशुद्ध, ये सभी नय पक्षपात युक्त।
द्रव्य-दृष्टि से इससे परे हूँ, मैं हूँ स्वतंत्र सच्चिदानंद।। (3)

राग द्वेष मोह व जन्म-मरण, सांसारिक सुख दुःख हानि-लाभ।
छोटा-बड़ा व अपना-पराया, इनसे युक्त व अयुक्त-रिक्त।।
समस्त संकल्प-विकल्प-संक्लेश, जाति-मत-पंथ व परंपरा।
सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा-राजनीति, इनसे युक्त व अयुक्त-रिक्त।। (4)

कर्त्ता-भोक्ता व ज्ञाता-ज्ञेय, एक-अनेक व वाच्य-अवाच्य।
नित्य-अनित्य व भाव-अभाव, इनसे युक्त व अयुक्त-रिक्त।।
मैं हूँ निर्विकल्प चैतन्य, समस्त बंधन व सीमा से रिक्त।
स्वयं में ही स्व द्वारा स्व में स्थित, कनक ('नंदी) का यह वास्तविक रूप।।(5)

सुसंवाद-सुसमाचार-चर्चा करूँ या समता से मौन में रहूँ
(सुसंवाद से विपरीत इण्डियन प्रायः विसंवाद करते।)

(चालः छोटी-छोटी गैया....) आचार्य कनकनन्दी

प्रशंसनीय की प्रशंसा (मैं) करूँ, नीन्दनीय की निन्दा न करूँ।
हितकारी संवाद मैं करूँ, अहितकारी संवाद न करूँ।।
देव-शास्त्र-गुरु व गुण-गुणी की, स्व-पर हितकारी सभी विषय की।
आत्मा-परमात्मा पंचपरमेष्ठी की, चर्चा करूँ मैं द्रव्य-तत्त्वों की।। (1)

स्व-पर अहितकारी चर्चा न करूँ, वैर-विरोध की चर्चा न करूँ।
परपीडन व गुप्त विषयों की चर्चा न करूँ, वैर-विरोध की चर्चा न करूँ।।
अपरश्रावी हेतु मौन मैं धरूँ, गुणगणकथा दोषवादेच मौन रहूँ।
मैत्री-प्रमोद-वात्सल्य की चर्चा मैं करूँ, वाचना-पृच्छना की चर्चा मैं करूँ।।(2)

यथा पंचकल्याण के प्रचार हेतु, जिनगुण महिमा बताने हेतु।
आहारदानादि के समर्थन हेतु, पंचाश्चर्यादि करते देव स्व-हित हेतु।।
केवली तीर्थंकर करते दिव्यध्वनि (प्रवचन) से गणधर ग्रन्थित करते स्व-शक्ति से।
परम्परा आचार्य लिखते स्व-शक्ति से, स्वाध्याय करते अन्य यथायोग्य से।।(3)

सात सौ मुनियों की रक्षा हेतु सूरी भेजते क्षुल्लक को विष्णुकुमार पास।

श्रुत रक्षा हेतु आचार्य श्री सूचना भेजते भूतबली-भूतबली-पुष्पदन्त मुनि के पास।।
पांचों कल्याण की सूचना पहुँचती है तीनों लोक के मध्य में।
मागधदेव भी सहयोगी बनते दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार में।।(4)

अन्य धर्म में भी करते स्व- स्व अनुसार, स्वधर्म का प्रचार करते स्व अनुसार।
राजनीति-व्यापार-शिक्षा, कला में, प्रचार-प्रसार करते स्व-स्व रीति से।।
आधुनिक सूचना प्रसार के माध्यम से, स्व-सूचना संवाद प्रचार करते धन से।
T.V रेडियो, से समाचार पत्रों से, होर्डिंग-विज्ञापन-निमंत्रण कार्ड (पत्रिका) से।(5)

संगीत-नाटक-कवि सम्मेलन से, गाजा-बाजा व साज-सज्जा से।
प्रीति भोजन से ले चाय पार्टी से, प्रचार-प्रसार करते स्व-स्व पद्धति से।।
कुछ तो विवादित वचन बोलकर, कुछ तो अनैतिक-अश्लील कामों से।
कुछ तो स्वयं को कष्ट आदि देकर, धन-जन-नाम कमाते प्रचार करके।।(6)

तथापि ऐसे लोग सुसंवाद न करते, सुसंवाद व प्रशंसा को गलत भी मानते।
स्वयं तो घमण्डी नवकोटि से होते, प्रशंसनीय गुण-गुणी की निन्दा करते
सही सूचना न देने के कारण भी, भारत में धन-जन हानि होती भी।
तथापि सरकारी तंत्र से व्यक्ति तक, सूचना न देते ऐस इण्डियन (इडियट) लोग।। (7)

सूचना देने में आलस-प्रमाद करते, अहंकार-बड़प्पन का ढोंग करते।
विकथा-गप्पबाज-बडबोल होते, अस्त-व्यस्त-संत्रस्त भी होते।।
ऐसा भाव-व्यवहार कथन न करूँ, सुसंवाद-सुसमाचार चर्चा करूँ।
अन्यथा समता में मौन मैं रहूँ, स्व-पर-विश्वहित 'कनक' मैं चाहूँ।। (8)

प्राचीन काल में जब मुनिसंघ आते नगर-ग्राम के बाह्य उपवनादि में।
उनकी सूचना देने वाले को सत्कार-पुरस्कार देते राजादि भी।। (9)

नन्दौड़ 18.11.2018 रात्रि 08:38

इंडोनेशिया का नायकःहर साल आपदा के औसतन 2300 मामले निपटाते हैं सुतोपो

खुद मौत के मुंह में और बचा रहे सैकड़ों की जान

इंडोनेशिया में इन दिनों सुतोपो पुर्वो नूग्रोहो एक जाना-माना नाम है। लोग उन्हें आपदा का हीरो कहकर बुलाते हैं। आपदा प्रभावित इस देश में सुतोपो हर साल औसतन 2300 आपात मामलों को निपटाते हैं। चाहे भूकंप हो या सुनामी या फिर बीते हफ्ते एक विमान दुर्घटना हो, सुतोपो हर जगह देवदूत बनकर पहुंच जाते हैं।

हालांकि दूसरों की जान बचाने वाला यह मसीहा खुद बड़ी आपदा से जूझ रहा है। बीते साल भर से वह अंतिम चरण में पहुंच चुके फेफड़ों के कैंसर का इलाज करा रहे हैं। यह वह चरण है, जब कैंसर दूसरे अंगों तक भी पहुंच जाता है।

असहनीय दर्द और करीब 21 किलो वजन घटने के बावजूद वह देश में आने वाली आपदा में तत्पर नजर आते हैं।

बिना रुके-थमे काम

सुतोपो आपदा शमन एजेंसी की बीते आठ साल से आवाज बने हुए हैं। लोगों को आपदा की सूचनाएं देते हैं और मौके पर मदद करने जाते हैं।

चित्रकारी के साथ कविता लेखन भी

सुतोपो भले ही खुद मौत से जूझ रहे हो, मगर वह अपनी जिंदगी को सहज बनाने का कोई मौका नहीं छोड़ते हैं। वह चित्रकारी के साथ-साथ कविता भी लिखते हैं। जावा में जन्मे सुतोपो ने जलवायु परिवर्तन में पीएचडी की हैं।

आपदाओं से नाता है इस देश का

इंडोनेशिया ऐसा देश है जहां कोई न कोई आपदा आती रहती है। भूकंप, ज्वालामुखी, बाढ़, भूस्खलन और सुनामी जैसी आपदाएं तो इस देश के लिए आम हैं। 2007 के बाद इस साल सबसे भीषण भूकंप आया था।

जावा के समंदर में समा गया था विमान

सुलावेसी में आए भूकंप से तटीय इलाकों में सुनामी आ गई थी। करीब 2,000 लोग मारे गए थे। बीते हफ्ते ही एक बोइंग जेट जावा के समुद्र में जा गिरा था, जिसमें सवार सभी 189 लोग मारे गए थे। सुतोपो हादसे के बारे में बिना सोए पल-पल की खबरें दे रहे थे।

अंडमान : इलाके में मनाही के बावजूद गया था 60 हजार साल पुराने कबीले में धर्म प्रचार करने पहुंचे अमरीकी नागरिक की हत्या

सेंटीनल जनजाति ने तीरों से मारा डाला, 7 मछुआरे गिरफ्तार

अंडमान-निकोबार के एक द्वीप पर 60 हजार साल पुरानी आदिम जनजाति के बीच धर्म प्रचार करने गए एक अमरीकी नागरिक को कबीले वालों ने तीरों से मारा डाला है। स्थानीय मीडिया के अनुसार मृतक जॉन एलन चाऊ (27)यहां ईसाई धर्म के प्रचार के लिए पांच बार पहले भी आ चुके थे।

पुलिस के मुताबिक, मछुआरे चाऊ को उत्तरी सेंटीनली द्वीप ले गए थे, जहां सेंटीनल जनजाति के लोग (सेंटीनली) रहते हैं। इस जनजाति और उनके इलाके को संरक्षित श्रेणी में रखा गया है। मछुआरों के अनुसार चाऊ ने जैसे ही द्वीप पर कदम रखा, उन पर तीरों से हमला शुरू हो गया। हालांकि इसके बाद भी वह आगे बढ़ते दिखे। चाऊ की हत्या करने के बाद आदिवासी उनके शव को रस्सी से घसीटते हुए समुद्र तट तक ले गए और शव को रेत में दबा दिया। मछुआरों ने बताया कि यह देखकर वे डर गए और भाग आए। अगले दिन सुबह मछुआरे दोबारा सेंटीनल द्वीप पहुंचे तो चाऊ का शव समुद्र किनारे पड़ा दिखा था, लेकिन वे उसे ला नहीं सके। खबर लिखे जाने तक चाऊ का शव भी बरामद नहीं किया जा सका था। 16 नंबर की इस घटना में पुलिस ने 20 नवंबर को एफआईआर दर्ज किया। चाऊ को द्वीप लेकर जाने वाले सात मछुआरों को गिरफ्तार किया गया है। वहीं चेन्नई स्थित अमरीकी दूतावास की प्रवक्ता ने गोपनीयता का हवाला देते हुए ज्यादा जानकारी देने से मना कर दिया। चाऊ का शव लाने में विफल रहने पर मछुआरे ने मामले की जानकारी पोर्ट ब्लेयर में चाऊ के दोस्त और स्थानीय उपदेशक एलेक्स को दी।

150 के करीब आबादी

2011 में सेंटीनल लोगों की आबादी 40 आंकी गई थी। माना जाता है कि अभी इनका संख्या 150 है। भारतीय कानून सेंटीनल लोगो की रक्षा करता है। उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। उनसे कोई संपर्क या निवास क्षेत्रों में प्रवेश

अवैध है। 2017 में ही सरकार ने इनका वीडियों बनाने या इंटरनेट पर अपलोड करने पर पाबंदी लगा दी थी। सेना को भी इनके करीब जाने की मनाही है।

खतरनाक हैं सेंटीनल

सेंटीनल काफी खतरनाक माने जाते हैं। ये हमले भी करते हैं। यहां जारवा जनजाति भी निवास करती है। इनसे भी मिलना प्रतिबंधित है।

हितोपदेशी तथा श्रोता

(ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न उपाय-हितोपदेश)

महान् ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल,भाव से युक्त शिष्य एवं गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि शिष्य एवं गुरु के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग सम्पूर्ण कारणों के सम्यक् समवाय से ही ऐसा महान् बोधि लाभ सम्भव है। यथा-

सर्व दुःख नाशकारी शिक्षा-

दुःखद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव।। 2 आत्मानु

हे आत्मन्! तू दुःख से अत्यन्त डरता है और सुख की इच्छा करता है, इसलिए मैं भी तेरे लिए अभीष्ट उसी तत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ जो कि तेरे दुःख को नष्ट करके सुख को करने वाला है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित्।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात।। 3

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोड़ा सा कडुआ (दुःख दायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकर) ही होगा। इसलिए हे आत्मन्! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

जिस प्रकार ज्वर आदि से पीड़ित बुद्धिमान् मनुष्य उसको नष्ट करने के लिए चिरायता आदि कडुवी भी औषधि को प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार के दुःख से पीड़ित भव्य जीवों को इस उपदेश को सुनकर प्रसन्नता पूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिए। कारण यह कि यद्यपि आचरण के

समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्षप्राप्ति) होगा।

हितोपदेशी दुर्लभ-

जना धनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वुयोत्थिताः।
दुलर्भा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः।। (4)

जिसका उत्थान (उत्पत्ति एवं प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों दुर्लभ हैं।

विशेषार्थ-जो मेघ गरजते तो हैं, किन्तु जलहीन होने से बरसते नहीं हैं, वे सरलता से पाये जाते हैं। परन्तु जो जल से परिपूर्ण होकर वर्षा करने के उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकार से जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर दयार्द्रचित होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियों को उससे उद्धार करने वाले सदुपदेश करते हैं वे कठिनता से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे ही उपदेशक का प्रयत्न सफल होता है।

हितोपदेशी का स्वरूप-

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।
ब्रुयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः(5)

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित हैं, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुके हैं, लोक व्यवहार से परिचित हैं, अर्थ-लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की ईच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शांत है, प्रश्न करने से पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की संभावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने

वाला है अर्थात् न तो घबराता है और न उत्तेजित ही होता है, श्रोताओं ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकार होता है।

सच्चे गुरु-

श्रुतमविकलं शुद्धाः वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरूरूद्योगोमार्ग प्रवर्तनसद्विधो।
बुधनतिरनुत्सेको लोकज्ञतामृदुताऽस्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्येचसोऽस्तुगुरुरुःसताम्।।

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व कार्य की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचार रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान स्तुति करते हैं, तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कारादि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित है तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान है; वही हेयोपदादेय-विवेक ज्ञान के अभिलाषा शिष्यों का गुरु हो सकता है।

शच्चे शिष्य-

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्।
सौख्यैषीश्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्तागृहः।। 7

जो भव्य है; मेरे लिए हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करने वाला है; दुःख से अत्यंत डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धि वैभव से संपन्न है, तथा उपदेश को सुखकारक और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध है ऐसे सुखकारक दयामय धर्म को

ग्रहण करने वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधकारी माना गया है।

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः।।

सबसे पहले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (शुश्रुषा) होनी चाहिए, अन्यथा तद्नुसार आचरण करना तो दूर रहा, किन्तु वह उसे रुचिपूर्वक सुनेगा भी नहीं। अथवा शुश्रुषा से अभिप्रायः गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण(सुनना), सुने हुए अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण करना (रखना) उसके योग्ययोग्य का युक्तिपूर्वक विचार करना, इस विचार से जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को छोड़ना, तथा योग्य तत्त्व के विषय में दृढ़ता से रहना, ये श्रोता के आठ गुण है जो उसमें होने चाहिए। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिए, क्योंकि वह यदि हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तु का स्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है-

आग्रहीवत् निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मातिरेति निवेशम्।।

अर्थात् दुराग्रही मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति से उसी ओर ले जाना चाहेगा। किन्तु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तद्नुसार वस्तु-स्वरूप का निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोता में ये विद्यमान होंगे वह सरूचिपूर्वक धर्मोपदेश को सुन करके तद्नुसार आत्महित के मार्ग में अवश्य प्रवृत्त होगा।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः।। 142 आत्मानु.

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती है उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

श्री गुरु दोष छुड़ाने और गुण-ग्रहण कराने के लिए कदाचित् असुहावने कठोर वचन भी कहे तो भी भव्य जीव का मन उस वचनों को सुनकर प्रसन्न ही होता है, उसे चिन्ता या खेद नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य की किरणें यद्यपि औरों को आताप उत्पन्न करने वाली उग्र और कठोर होती है, तथापि वे कमल की कली को प्रफुल्लित ही करती है, उसी प्रकार गुरु के वचन पापियों को स्वयं हीन होने के कारण यद्यपि दुःख उत्पन्न करने वाले कठोर होते हैं, तथापि वे धर्मात्मा के मन को आनंद ही उत्पन्न करते हैं। धर्मात्मा जीवों को श्री गुरु जब दबाकर (अत्यंत कठोरता के साथ) उपदेश देते हैं, तब वे अपने को धन्य मानते हैं।

प्रश्न-कठोर उपदेश से पापियों को तो दुःख ही होगा ?

उत्तर-श्रीगुरु जिसे पापी या तीव्र कषायी समझते है, उसे कठोर उपदेश नहीं देते,वहाँ माध्यस्थ भाव रखते हैं।

यहाँ तो आचार्य शिष्य को शिक्षा देते है कि श्रीगुरु तेरा भला करने के लिए कठोर वचन कहते हैं, उन्हें तुझसे ईर्ष्या का प्रयोजन नहीं है, अतः उन्हें इष्ट जानकर उनका आदर ही करना चाहिए।

धर्मात्माओं की दुर्लभता-

लोकद्वयहिंत वक्तुं श्रोतुं च सुलभाःपुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः। (143)

पूर्व काल में दोनों लोकों में हितकारी धर्म को कहने और सुनने वाले सुलभ थे, किन्तु करने वाले दुर्लभ थे, किन्तु इस काल में तो कहने और सुनने वाले भी दुर्लभ हो गये है।

तीन बंदर की मूर्तियाँ ही नहीं; चार चाहिए

तीन बंदर की मूर्तियाँ- (1) बुरा नहीं देखना, (2) बुरा नहीं सुनना (3) बुरा नहीं बोलना के प्रतीक स्वरूप क्रमशः हाथों से दोनों आँख दोनों कान एवं मुख को बंद करती हुई बंदर की 3 मूर्तियाँ पर्याप्त नहीं है। इसके साथ-साथ बुरा नहीं सोचने के भाव के प्रतीक स्वरूप छाती में हाथ रखती हुई चौथी बंदर की मूर्ति की भी नितान्त अनिवार्यता है। क्योंकि यदि कोई अंधा-बधिर-मुक भी है परन्तु बुरा सोच रहा है तो वह बुरा ही है परन्तु वितराग सर्वज्ञ भगवान् सब कुछ देखने-

सुनने पर भी तथा 718 भाषा में बोलने पर भी बुरा नहीं है। अच्छा-बुरा का उद्गमस्रोत विचार ही है। विचार के अनुसार ही उच्चारण-श्रवण-दर्शन, आचरण होता है। अच्छा विचार (सुधार करने के लिए, हित करने के लिए) से यदि दूसरों के बुरे गुणों के बारे में कोई सोच-विचार कर रहा है, बुरे वचनों को सुन रहा है, बुरे कामों को देख रहा है और हितकर कटु (बुरा) बोल रहा है तो भी वह बुरा नहीं है। अपितु ऐसे परोपकारी, हितोपदेशी,सज्जन गुणीजन, गुरुजन उनसे श्रेष्ठ हैं जो दूसरों के हित के लिए दिल-दिमाग-आँख-कान-मुँद रखते हैं। दुर्जन, पर अहितकारी लोगों के लिए यह 3, तीन मूर्तियाँ सही है। क्योंकि वे गंदगी की मक्खी, मच्छर, खटमल के जैसे केवल दूसरों को क्षति पहुँचाने के लिए ही दूसरों के बुरा देखते हैं, बुरा सुनते हैं, बुरा बोलते हैं।

न विना परिवादेन् रमते दुर्जनो जनः।
काकःसर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यति।। 382 स. कौ.

दुष्ट मनुष्य को निन्दा किये बिन चैन नहीं पड़ती क्योंकि कौआ समस्त रसों को छोड़कर अशुचि पदार्थ के बिना संतुष्ट नहीं होता।

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।। 383।।

दुष्ट पुरुष, दूसरों के सरसों बराबर दोषों को देखता है और अपने बेल से बराबर दोषों को देखता हुआ भी नहीं देखता है।

सर्पःक्रूर खलः क्रूरः सर्पात्क्रूरतरः खलः।
मन्त्रेण शाम्यते सर्पः खलः केनोपशाभ्यते।। 384।।

सर्प क्रूर और दुर्जन भी क्रूर है परन्तु दुर्जन, सर्प की अपेक्षा अधिक क्रूर है क्योंकि सर्प तो मंत्र से शांत हो जाता है परन्तु दुर्जन किससे शांत होता है ? अर्थात् किसी से नहीं।

अतिमालिने कर्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।
तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः।। 504।।

अत्यंत मलिन कार्य के करने में दुर्जनों की बुद्धि अत्यंत निपुण होती है क्योंकि उल्लुओं की दृष्टि अंधकार में रूप को ग्रहण करती है। इन सबसे भी श्रेष्ठ है समता रस में लीन निर्विकार ज्ञाता-दृष्टा-टंकोत्कीर्ण-शुद्धात्मा।

हित-मित-प्रिय या हित-अमित-अप्रिय

सामान्य जन के लिए सामान्य परिस्थिति में तो हित-मित-प्रिय वचन ही श्रेष्ठ है परन्तु विशेष जन (हिताकांक्षी) सहृदयी, गुरु, माता-पिता अभिभावक-डॉक्टर-वैद्य, न्यायाधीश आदि) के लिए विशेष परिस्थिति में विशेष, विशेष व्यक्तियों के लिए हित-मित-प्रिय से भी हित-अमित-अप्रिय वचन श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ है अकथनीय है। जैसा कि

गुरु कुम्हार कुंभ शिष्य है गढ-गढ काढे खोट।
अंदर हाथ पसारकर, ऊपर मारे चोट।
परोपकारायददाति गौः पयः, परोपकारायफलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्य, परोपकाराय सत्तां प्रवृत्तिः।

जैसा कि रोग को दूर करने वाली कड़ी औषधि रोग को वृद्धि करने वाला मिष्ठान्न से भी श्रेष्ठ है उसी प्रकार हिताकांक्षी- हितोपदेशी सच्चे-अच्छे गुरु के कटु वचन भी, उन ठग, वैश्या, चाटुकार के मधुर-प्रिय वचन से भी अधिक श्रेष्ठ है, सत्य है, गाह्य है। गुरु भी यदि शिष्य के हित के लिए कठोर वचन नहीं बोलते है तो कुगुरु है। यथा-

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा भ्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः।(141)

कोई व्यक्ति गुरु-प्रवृत्ति कायम रखने के अभिप्राय से शिष्य में विद्यमान दोषों को छिपाता है और यदि उन दोषों के रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए गुरु क्या करेगा ? इसलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है तो जो मेरे दोषों को देखने में प्रवीण अर्थात् निरंतर मेरे दोषों को अच्छी तरह देखने वाला और मेरे थोड़े दोषों को भी बढ़ा-चढ़ाकर कहने वाला दुर्जन भी मेरा सच्चा गुरु है।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
खेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः। (142) (आ. शासन)

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती है उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीयते।
कृतं किमपि धार्ष्टयतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता। (144) आत्मानु

गुण-दोष के विवेक से युक्त सत्पुरुषों द्वारा अपने दोष अधिकता से प्रगट करना भी बुद्धिमानी जीवों को भले उपदेश के समान अत्यंत प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है और धर्मतीर्थ का सेवन न करने वाले (दुष्ट पुरुषों) द्वारा धीठता से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमान विवेकी जीवों को संतोष उत्पन्न नहीं करता। परन्तु तुझे (शंकाकार को) अन्यथा भासित होता ; तेरी इस अज्ञानता से हमें खेद होता है।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः। (145)

अन्य कारणों की अपेक्षा छोड़कर जो जीव गुणों और दोषों के कारण ही ग्रहण और त्याग करते हैं, वे ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः। (146) आत्मा.

हे जीव! तू दुर्बुद्धि होता हुआ हित को छोड़कर अहित में स्थित रहकर अपने को अत्यंत दुःखी करता है, इसलिए अब इसका उल्टा कर! अर्थात् सुबुद्धि होता हुआ अहित को छोड़कर हित में स्थित रहते हुए उसी की वृद्धि कर! इससे तू अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त करेगा।

प्राचीन महान् हितोपदेशी आचार्यों ने भी कभी-कभी शिष्यों को सुधारने के लिए कठोर वचनों का प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ ही कोई विषय यदि शिष्य को समझ में नहीं आता है तो अनेक बार (अमित) समझाया है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ तक में भी अनेक उदाहरणों के माध्यम से अनेक गाथाओं में एक ही विषय को समझाया गया है। किन्तु सामान्य व्यक्ति अहितकर वचन, विकथा आदि वाचालता से करते हैं तथा आर्तध्यान, रौद्रध्यान से युक्त होकर अप्रिय बोलते

हैं इसलिए उनको इस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए तो हित के साथ-साथ मित एवं प्रिय ही बोलना चाहिए।

कथंचित् मौन से भी श्रेष्ठ सत्य कथन-

समतापूर्वक, मन-वचन-काय से मौनपूर्वक ध्यान-अध्ययन-साधन-लेखन आदि करना श्रेष्ठ है तथापि विशेष परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार हितकर-सत्य वचन बोलना मौन से भी श्रेयस्कर है। इसलिए मनुस्मृति में कहा है-मौनात्सत्यं विशिष्यते। जैनाचार्य ने भी कहा है-

मौन रहे या सत्य कहे-

मौनमेव हितं पुसां शश्वत्स्वार्थसिद्धये।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्वोपकारियद्।। 6।।

पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों का सिद्ध करने वाला निरंतर मौन ही अवलंबन करना हितकारी है। और यदि वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिए जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करने वाला हो।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धांतार्थ विप्लवे।
अपृष्टै रपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने।। (ज्ञानावर्णय)

जब जहाँ सत्य धर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया का विध्वंस होता हो, समीचीन सिद्धांत-अर्थ का अपलाप-विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म क्रिया और सिद्धांत के प्रचार-प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए क्योंकि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व-पर-राष्ट्र विश्व की सुरक्षा समृद्धि होती है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशःस्यात्प्रभावना।। 18

अज्ञानरूपी अंधकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिनशासन के अनुसार महात्मय को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियतउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुण करिया।। श्वे, साहित्य

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विष रूप समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मःश्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुध्या वक्तुस्तवेकान्ततो भवति।।

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है। उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

इसलिए तो पचंनमस्कार मंत्र में सिद्ध भगवान् के पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया गया भले सिद्ध भगवान् अरिहंत भगवान् से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि सिद्ध भगवान् उपदेश नहीं देते तथा अरिहंत भगवान् उपदेश देते हैं। इसलिए तो मार्गदर्शक-हितोपदेशी गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञानदान/हितोपदेश को सबसे बड़ा पापरहित दान कहा गया है और ज्ञानादानी को गुरु कहा गया है। आहार, औषधि, अभय दान करने वाले दानी, पुण्यात्मा होते हुए भी गुरु नहीं है, गुरु के जैसे श्रेष्ठ ज्येष्ठ, पूजनीय है। यदि तीर्थंकर, केवली, गणधर आचार्य, उपाध्याय, साधु, शिक्षक, समाज सुधारक, महान् क्रातिकारी नेता-माता-पिता आदि हितोपदेश, शिक्षा-मार्गदर्शन नहीं देंगे तो मानव समाज का विकास ही रूक जायेगा।

समवशरण में भगवान् की दिव्यध्वनि का निसृत होना, महात्मा बुद्ध का धर्मचक्र, प्रवर्तन, धर्म प्रचारक से लेकर साधु-संतों के प्रवचन(सत्संग कथावाचन) क्रांतिकारी नेता-समाज सुधारक आदि का भाषण, तत्त्वचर्चा, शंका समाधान आदि सब हितोपदेश के ही भेद-प्रभेद हैं। भले प्रवचन (प्र+वचन) सर्वज्ञ हितोपदेशी का ही होता है तथापि उनके अनुसार कथन करने वालों का भी प्रवचनसम (गौण रूप से प्रवचन) होता है और अपने-अपने क्षेत्र-विषयों में जो सत्य-तथ्य-हितकर वचन वह भी उपचार, व्यवहार से प्रवचन है। इन सबके द्वारा धर्मतीर्थ प्रवचन से लेकर लोक व्यवहार का भी प्रवर्तन होता है। ऐसे बहुगुण युक्त, ज्ञान-विज्ञान-नीति-समाजनीति-राजनीति-न्यायनीति के संवाह का, प्रवर्तक वचन-शक्ति का सदा-सर्वदा-सर्वथा सदुपयोग रूप में ही प्रयोग करना अनिवार्य है। वचन के दुरूपयोग से विनाश ही विनाश संभव है। इसलिए कहा है- ''बातें हाथी पाये, बातें हाथी पायें'' अर्थात् अच्छे वचनों से पुरुस्कार, रूप में हाथी मिल सकता है तो गलत वचनों से हाथी के पैर के नीचे दबाकर मृत्यु दण्ड भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए वचन

बोलने के पहले तौलकर बोलना चाहिए अन्यथा मौन रहना ही श्रेयस्कर है। इसलिए नीतिकार कहते हैं- ''बोलना चांदी है तो मौन सोना है।'' ''बोलने से जानकारी बढ़ती है तो मौन से विवेक बढ़ता है।'' अतएव बोलने के पहले विवेक से तौलकर बोले। कथंचित् धनुष से छोड़ा हुआ बाण को संहार (वापिस) करना संभव है परन्तु मुख से छोड़ा हुआ वाक्-बाण को संहार करना असंभव या असंभवसम या कष्ट साध्य है। जिस प्रकार कि आहार आदि दाता विशेष, पात्र विशेष, द्रव्य विशेष, विधि विशेष, क्षेत्र विशेष, काल विशेष आदि के अनुसार दिया जाता है उसी प्रकार या उससे भी अधिक महादान स्वरूप ज्ञानदान/हितोपदेश को दातादि विशेष से युक्त होकर देना चाहिए लेना चाहिए अन्यथा लाभ से अधिक हानियाँ संभव हैं।

जब दिव्य-ध्वनि खिरती है तब दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक रहती है। श्रोता के कर्ण में पहुँचने के बाद वह ध्वनि श्रोता के योग्य भाषा में परिवर्तितिक हो जाती है इसलिए दिव्य ध्वनि निश्रुत होने के बाद जब तक श्रोता तक नहीं पहुँचती है तब तक यह दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक, अभाषात्मक (अनेकभाषात्मक, सर्वभाषात्मक) रहती है एवं जब श्रोता के कर्ण में प्रवेश करती है तब वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक, भाषात्मक, परिवर्तित ही जाती है।

दिव्य-ध्वनि देवकृत नहीं-

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहीतःस्यात्।
साक्षर एव च वर्ण समूहान्नेव विनार्थगतिर्जगति स्यात्।। 73।।

कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्य-ध्वनि देवों के द्वारा की जाती है, परन्तु उनका वह कहना मिथ्या है क्योंकि वैसा मानने पर भगवान् के गुण का घात हो जाएगा अर्थात् वह भगवान् का गुण नहीं कहलाएगा। देवकृत होने से देवों का कहलाएगा। इसके सिवाय वह दिव्य-ध्वनि अक्षर रूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता।

दिव्य-ध्वनि देवकृत-

कथमेवं देवोपनीतत्वमिति चेत् ?
मागहादेवं संनिधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृत भाषया प्रवतृते।
(दर्शनपाहुडटीका)

प्रश्न- यह देवोपनीत कैसे है ?

उत्तर- यह देवोपनीत इसलिये है कि मगध देवों के निमित्त से संस्कृत रूप परिणत हो जाती है।

दिव्य-ध्वनि को अर्धमागधी, देवकृत अतिशय तथा केवलज्ञान के अतिशय भी कहते हैं। हरिवंश पुराण में जिनसेन स्वामी दिव्य ध्वनि को सर्वार्ध मागधी भाषा बताते हुए कहते हैं-

अमृतस्तोव धारां तां भाषां सर्वार्धमागधीं।
पिषन् कर्णपुटैर्जैनी ततर्प त्रिजगज्जनः।। 16।।

सर्वभाषारूप परिणमन करने वाली अमृत की धारा के समान भगवान् की अर्थमागधी भाषा का कर्णपुटों से पान करते हुए तीन लोक के जीव संतुष्ट हो गये।

इसी शास्त्र में इसी तृतीय अध्याय में पूर्व उक्त जिनसेन स्वामी ही द्रव्य-ध्वनि को भगवान् द्वारा प्रतिपादित वचन है सिद्ध करते हुए बताते हैं कि-

धर्मोक्तौ योजनव्यापी चेतः कर्णरसायनम्।
दिव्यध्वनि जिनेन्द्रस्य पुनाति स्म जगत्रयम्।। 38।।

जो धर्म का उपदेश देने के लिए एक योजन तक फैल रही थी तथा जो चित्त और कानों के लिए रसायन के समान थी ऐसी भगवान् की दिव्यध्वनि तीनों जगत् को पवित्र कर रही थी।

उपरोक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वस्तुतः दिव्यध्वनि पूर्वोपार्जित सर्वश्रेष्ठ तीर्थङ्कर प्रकृति के उदय से तथा भव्यों के पुण्य उदय से तीर्थंकर से सर्वाङ्ग से ओंकार ध्वनि स्वरूप सर्व भावात्मक अनाक्षरात्मक (कोई निश्चित एक भाषा नहीं होने के कारण) खिरती हैं। परन्तु गणधर देव उस बीजात्मक, सूत्रात्मक उपदेश को ग्रंथ रूप से रचना करते हैं पूर्वाचाय ने कहा भी है-

''अरिहंत भासियत्थं गणहर देविहं गंथियं सम्मं।''

अरिहंत भगवान् के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को गणधर देव सम्यक् रूप से ग्रंथित करते हैं अर्थात् तीर्थङ्कर भावश्रुत के कर्त्ता हैं एवं गणधर द्रव्यश्रुत के कर्त्ता हैं।

तार्किक चूड़ामणि महान् दार्शनिक भगवत् वीरसेन स्वामी विश्व के अनुपम साहित्य धवला में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं-

पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंधाणमेक्कमण चेव मुहुत्तेण कमेण रयना कदा। तदो भाव-सुदस्य अत्थ-पदाणं च तित्थ्यरो कर्त्ता। तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वं-सुदस्य गोदमो कत्त। छक्खंडागमे जीवट्ठाणं पृ-65

अनन्तर भाव श्रुतरूप पर्याय से परिणत उस इन्द्रभूति ने 12 अंग और 14 पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थपदों के कर्त्ता तीर्थंकर हैं। तथा तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गौतम गणधर हैं। इस तरह गौतम गणधर से ग्रंथ रचना हुई।

जिस प्रकार जलवृष्टि होने के पश्चात् वह जल नदी में श्रोत रूप में बहकर जाता है उस जल को जीवनोपयोगी बनाने के लिए इंजिनियर नदी में डेम बांधकर पानी को संचित करते हैं उस पानी को बड़े-बड़े पानी पाइप के द्वारा वहन करके पानी टंकी में सञ्चित करते हैं पुनः छोटे-छोटे नल द्वारा नगर, गली, घर आदि में पहुँचाते हैं। घर में जो पानी पहुँचता है उसको नल का पानी कहते हैं। वस्तुतः पानी नल का नहीं है नल का पानी जलकुंड से आया एवं जलकुंड का पानी नदी से आया और नदी का पानी वृष्टि से आया। अतः निश्चय से जिसको हम नल का पानी कहते वह पानी वृष्टि का है। इसी प्रकार दिव्य ध्वनि रूपी जल सर्वज्ञ भगवान् से निर्झरित होता है, उसे महान् श्रोत को साधारण जनोपयोगी बनाने के लिए गणधर रूपी इंजिनियर ग्रंथ (आगम) रूपी डेम (कृत्रिम जलाशय) में संचित करते हैं। जिस प्रकार संचित जल छोटे-छोटे पाइपों के माध्यम से घर-घर पहुँचाया जाता है। उसी प्रकार मगध जाति के देवों के माध्यम से उस पवित्र दिव्य ध्वनि रूपी जल को जन-जन तक पहुचाया जाता है।

जिस प्रकार एक भाषणकर्ता बहुजन के मध्य में भाषण करता है उस भाषण को सर्व श्रोताओं के समीप पहुँचाने के लिए माइक लाउडस्पीकर का प्रयोग किया जाता है। भाषणकर्त्ता जो भाषण करता है वही भाषण ग्रहण करके इलेक्ट्रोमेग्नेटिक वेव में परिवर्तित करके लाउडस्पीकर तक पहुँचा देता है और लाउडस्पीकर उस इलेक्ट्रोमेगनेटिक वेव रूप में परिवर्तित कर देता है। जिससे दूर दूरस्थ श्रोता लोग भी भाषण को स्पष्ट रूप से सुनने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः

भाषण विषय, भाषणकर्त्ता का होते हुए भी साधारण भाषा में साधारणतः लाऊडस्पीकर का शब्द है कहा जाता है। उसी प्रकार दिव्य ध्वनि वस्तुतः तीर्थंकर से निर्झरित होती है। गणधर तथा मागध देवों के द्वारा योग्य रीति से जन-जन तक पहुँचाया जाता है। जिस प्रकार जल पाईप अथवा लाऊडस्पीकर के माध्यम से पानी तथा भाषण जन-जन तक पहुँचाने के कारण निर्मित वशात् पानी को नल का पानी, भाषण को लाऊडस्पीकर का कहा जाता है उसी प्रकार दिव्य ध्वनि को देव पुनीता कहना नैमित्तिक व्यवहार मात्र है।

मागध जाति के देव दिव्य ध्वनि को जन-जन तक पहुँचाने के कारण उनका उपकार स्वीकार करके उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए भी देवकृत कहना युक्ति संगत है। उपरोक्त वर्णन प्राचीन आचार्यकृत कोई भी ग्रंथ में स्पष्ट वर्णन नहीं है परन्तु मैंने विषय को स्पष्टीकरण करने के लिए अपनी बुद्धि, तर्क से किया है। इसमें जो सत्यांश है जिसके पाठकगण ग्रहण करके असत्यांश को मेरा अज्ञानता का कारण मानकर त्याग कर देवें।

दिव्य ध्वनि का महत्व-

महान् आध्यात्मिक क्रांतिकारी संत कुन्दकुन्दचार्य दिव्य ध्वनि का अलौकिक अनुपम अद्वितीय महत्व बताते हुए अष्ट पाहुड में निम्नप्रकार वर्णन करते हैं-

जिणवयण मोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरण वाहि हरणं खयकरण सव्वदुक्खाणं।। 17।।

जिनेन्द्र भगवान् के अनुपम वचन, महान् औषधि सदृश है। जिस प्रकार महौषधि सेवन से शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार दिव्य ध्वनि रूपीमहौषधि सेवन से मानसिक आध्यात्मिक एवं सांसारिक रोग नष्ट हो जाते हैं। विषय महाविष तुल्य है। विष वेदना दूर करने के लिये आयुर्वेद के अनुसार पहले विष रोगी को विरेचन औषधि देकर वांति कराते हैं, उसी प्रकार विषय सुख रूपी विष को वांति कराने के लिए जिनेन्द्र वचन दिव्यध्वनि ही वचनामृत है, इस वचनामृत को जो पान करता है वह जन्म जरा, मरण एवं आधि-व्याधि-उपाधि से रहित होकर शाश्वतिक अमृत तत्त्व (मोक्ष तत्त्व) को प्राप्त कर लेते है। सम्पूर्ण दुःखों का कारण अज्ञान, मोह, कुचारित्र है। दिव्यध्वनि के माध्यम से अज्ञान,मोह रूपी अंधकार नष्ट

होने से जीव के अंतःकरण में ज्ञानरूपी ज्योति प्रज्वलित हो जाती है जिससे अज्ञान आदि अंधकार नष्ट किया जाता है, आध्यात्मिक ज्योति से जीव यथार्थ सुखमार्ग को पहचान कर तदनुकूल आचरण करता है, जिससे शाश्वतिक सुख प्राप्त होता है और समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं यह दिव्यध्वनि ''तिहुवण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं'' अर्थात् त्रिभुवन हितकारी, मधुर विशद स्वरूप है।

देवकृत तेरह अतिशय-

माहप्पेण जिणाणं, संखेज्जेसुं च जोयणेसु वणं।
पल्लव-कुसुम-फलद्धी-भरिदं जायदि अकालम्मि।। 916।।
कंटय-सक्कर-पहुंदिं, अवणित्ता वादि सुरकदो वाऊ।
मोत्तूण पुव्व-वेरं, जीवा वट्टंति मेत्तीसु।। 917।।
दप्पण-तल-सारिच्छा, रयणमई होदि तेतिया भूमी।
गंधोदकेई वरिसइ, मेघकुमारो पिसक्क-आणाए।। 918।।
फल-भार-णमिद-साली-जवादि-सस्सं सुरा विकुव्वंति।
सव्वाणं जीवाणं, उप्पज्जदि णिच्चमाणंदो।। 919।।
वायदि विकिकरियाए, वायुकुमारो हु सीयलो पवणो।
कूव-तडायादीणिं णिम्मल-सलिलेण पुण्णाणि।। 920।।
धूमुक्कपडण-पहुदीहि विरहिदं होदि णिम्मलं गयणं।
रोगादीणं बाधा, ण होंति सयलाण जीवाणं।। 921।।
जक्खिद-मत्थएसुं, किंरणुज्जल-दिव्व-धम्म चक्काणि।
दट्ठूण संठियाइं, चत्तरि जणस्स अच्छरिया।। 922।।
छप्पण्ण, चउदिसासुं, कंचण-कमलाणि तित्थ-कत्ताणं।
एक्कं च पायपीढे, अच्चण-दव्वाणि दिव्व-विहिदाणि।। 923।।

(1) तीर्थंकरों के महात्म्य से संख्यात योजनों तक वन प्रदेश असमय में ही पत्रों, फूलों एवं फलों से परिपूर्ण समृद्ध हो जाता है।

(2) कांटों और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु प्रवाहित होती है।

(3) जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्री-भाव से रहने लगते हैं।

(4) उतनी भूमि दर्पणतल सदृश स्वच्छ एवं रत्नमय हो जाती है।

(5) सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करता हैं।

(6) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य की रचना करते हैं।

(7) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है।

(8) वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है।

(9) कूप और तालाब आदिक निर्मल जल से परिपूर्ण हो जाते हैं।

(10) आकाश धुआँ एवं उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है।

(11) सम्पूर्ण जीव रोगबाधाओं से रहित हो जाते हैं।

(12) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों की भाँति उज्जवल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर मनुष्यों को आश्चर्य होता है। तथा-

(13) तीर्थंकरों की चारों दिशाओं (विदिशाओं) में छप्पन स्वर्ण-कमल, एक पादपीठ और विविध दिव्य पूजन द्रव्य होते हैं।

तीर्थंकर के महान् पुण्य प्रताप से तथा आध्यात्मिक वैभव से प्रेरित, अनुप्राणित होकर तथा तीर्थंकर के विश्वकल्याणकारी अमर संदेश के प्रचार-प्रसार करने के लिये देवलोग भी सक्रिय भाग लेते हैं। उसके लिये समवरण की रचना के साथ-साथ कुछ महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य करते हैं, उसको देवकृत अतिशय कहते हैं।

देवकृत अतिशय-

देव रचित है चार दश, अर्ध मागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश अकाश।।
होत फूलफल ऋतु सवै, पृथ्वी काँच समान।
चरण कमल तल कमल है, नमतैं जय-जय बान।।

मंद सुगन्ध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषे कंटक नहीं, हर्षमयो सब सृष्टि।।
धर्म-चक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरिहंत के, ये चौंतीस प्रकार।।

(1) सब ऋतुओं के फलपुष्प एक साथ होना-

तीर्थंकर के सातिशय पुष्प प्रताप से प्रकृति कण-कण में प्रभावित हो जाती है। तीर्थंकर जिस क्षेत्र में रहते है, योग्य समय में योग्य वर्षा होती है तथा वातावरण अत्यन्त पवित्र प्रशान्त होने के कारण तथा तीर्थंकर अहिंसा, मैत्रीभाव, विश्व मैत्री, प्रेम से प्रभावित होकर एक ही समय में सब ऋतुओं के फल-पुष्प, पुष्पित,पल्लवित हो जाते हैं।

परिनिष्पन्न-शाल्यादिसस्यसंपन्मही तदा।
उद्भूत हर्ष रोगांचा स्वामिलाभादिवा भवत्।। 266।।

भगवान् के विहार के समय पके हुए शाली आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी का लाभ होने से उस हर्ष के रोमांच ही उठ आए हों।

अकालकुसुमोद्भेदं दर्शयन्ति स्म पादपाः।
ऋतुभिः सममागत्य संरूद्धा साध्वसादिव।। 269।।

वृक्ष भी असमय में फलों के उद्भेद को दिखला रहे थे अर्थात् वृक्षों पर बिना समय के ही पुष्प आ गये थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों सब ऋतुओं ने भय से एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो।

अहंयव इवाजस्रं फलपुष्पानत द्रुमाः।
सहैवं षडपि प्राप्ता ऋतु-वस्तं सिषेविरे।। 18।। हरि. पु.

जिनमें समस्त वृक्ष निरन्तर फल और फलों से नम्रीभूत हो रहे थे ऐसी छहों ऋतुओं ''मैं पहले पहुँचू'', मैं पहले पहुँचूं'' इस भावना से ही मानो एक साथ आकर उनकी सेवा कर रही हैं।

क्षेत्र परिस्थिति, जलवायु भावात्मक परिस्पंदन का परिणाम भी वनस्पतियों के ऊपर पड़ता है जिस प्रकार हिमालय के पाददेश चिरस्त्रोता, गंगा, सिन्धु, नीलनदी ब्रह्मपुर आदि की तटभूमि सुन्दर वन में चिरहरित वनस्पति होती है। वर्षा ऋतु में

वनस्पति पल्लवित पुष्पित होती है परन्तु ग्रीष्म ऋतु में नहीं। वर्तमान वैज्ञानिक लोग विशेषतः मनोवैज्ञानिक लोग सिद्ध किए हैं कि वनस्पतियाँ, पवित्र, प्रेम, अहिंसा भाव तथा मधुर संगीत से विशेषतः पल्लवित पुष्पित फलवती होती हैं इसका वर्णन आगे जीव-विज्ञान में किया जाएगा।

उपरोक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि वनस्पति परिसर एवं भावों से प्रभावित होती हैं, इसलिए तीर्थंकर के पवित्र वातावरण से अहिंसात्मक प्रभाव से प्रभावित होकर वृक्षों पर एक ही समय में सब ऋतुओं के फल-फूल लग जाते हैं-

(2) निष्कंटक पृथ्वी होना-

पवनकुमार जाति के देवों के द्वारा तीर्थंकर के विहार करते समय सुगन्ध मिश्रित हवा चलती है। पृथ्वी धूल, कंटक (काँटा),घास, पाषाण, कीटादि रहित होकर स्वच्छ रहती है।

देवा वायुकुमारास्ते योजनान्तर्धरातलम्।
चक्रुः कण्टकपाषाण कीटकादि विवर्जितम्।। 22।।

वायुकुमार के देव एक योजन के भीतर ही पृथ्वी को कण्टक, पाषाण तथा कीड़े-मकोड़े आदि से रहित कर रहे थे।

जब अपना घर, ग्राम या नगर में कोई विशिष्ट अतिथि, नेता, मंत्री आदि आते हैं तब उस अवसर पर नगर, रास्ता आदि स्वच्छ करते हैं। तो क्या तीन लोक के प्रभु, जगत् उद्धारक, विश्व बन्धु तीर्थंकर के आगमन से देवलोक क्या, पृथ्वी रास्ता स्वच्छ करने में क्या आश्चर्य है।

(3) परस्पर मैत्री-

तीर्थंकर भगवान् पूर्वभव से विश्व मैत्री भावना से प्रेरित होकर जो बीजभूत पुण्य कर्म का बन्ध किये थे उस बीजभूत पुण्य कर्म तीर्थंकर अवस्था में अंकुरित-पल्लवित होकर फल प्रदान कर रहा है। उस मैत्री फल के कारण उनके पवित्र चरण के सानिध्य प्राप्त करते हैं, वे सम्पूर्ण जीव परस्पर की शत्रुता भूलकर परस्पर मैत्री भाव से बंध आते हैं।

अन्योन्य-गधमासोदुमक्षमाणामपि द्विषां।
मैत्री वभूव सर्वत्र प्राणिनां धरणी तले।। 17।।

जो विरोधी जीव एक-दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न करने में प्रीतिंकर नामक देव तत्पर रहते थे।

(4) दर्पण तल के समान स्वच्छ पृथ्वी होना-

स्वान्तः शुद्धि जिनेशाय दर्शयन्तीव भूवधूः।
सर्वरत्नमयी रेजे शुद्धादशंतालोज्वला।। 19 ।। ह. पु.

सर्व रत्नमयी तथा निर्मल दर्पण तल के समान उज्वल पृथ्वी रूपी स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के लिए अपने अंतःकरण की विशुद्धता ही दिखला रही हो। जिनसेन स्वामी आदि पुराण में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं-

आदर्शमण्डलाकारपरिवर्तित भूतलः।। 25।।

आदर्श (दर्पण) के समान पृथ्वी मण्डल को देवलोग स्वच्छ,पवित्र, रत्नमय बना देते हैं।

(5) शुभसुगन्धित जल की वृष्टि-

तदन्तरमेवोच्चैस्तनिताः स्तनिताभिधाः।
कुमारा वदाषुमैधीभूता गन्धोदकम् शुभम्।। 23।। ह.पु.

उनके बाद ही जोर की गर्जना करने वाले स्तनितकुमार नामकदेव मेघ का रूप धारण कर शुभ सुगन्धित जल की वर्षा कर रहे थे।

(6) पृथ्वी शस्य से पूर्ण होना-

रेजे शाल्यादि सरयौघैर्मेदिनी फल शालिभिः।
जिनेन्द्र दर्शनानन्द प्रोद्भित्र पुलकैरिव।। 25।।

फलों से सुशोभित शालि आदि धान्यों के समूह से पृथिवी ऐसी सुशोभित हो रही थी। यानी दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष से उसके रोमाञ्च ही निकल आये हों।

जिस प्रकार भौतिक वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक लोग कृत्रिम वर्षा करते हैं तथा असमय में ही वैज्ञानिक साधनों से कम दिन में सस्य उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार देव लोग भी अपनी दैविक शक्ति के माध्यम से सस्यादि उत्पन्न करते हैं।

(7) सम्पूर्ण जीवों को परमानंद प्राप्त होना -

विहरत्युपकाराय जिने परम बांधवे।
वभूव परमानन्दः सर्वस्य जगतस्तदा।। 21।।

परम बन्धु जिनेन्द्र देव के जगत् कल्याणार्थ विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनन्द प्राप्त होता था। जिस प्रकार जगत् हितकारी विश्व बंधु तीर्थंकर के दर्शन से विहार से, समस्त जगत् को परम आनन्द प्राप्त होता है।

(8) सुगन्धित वायु बहना-

जनितांग सुख स्पशों ववौ विहरणानुगः।
सेवामिव प्रकुर्वाणः श्री वीरस्य समीरणः।। 20।।

शरीर में सुखकर स्पर्श उत्पन्न करने वाली विहार के अनुकूल मंद सुगन्धित वायु बह रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् की सेवा ही कर रही हो। जिस प्रकार वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक युग में उष्णता शांत करने के लिये फेन, कूलर, वातानुकूल प्रकोष्ठ आदि का आविष्कार हुआ है उसी प्रकार देव लोग अपनी दैविक ऋद्धि वैक्रियक शक्ति से शीतल पवन प्रवाहित करते थे।

जलाशय का जल निर्मल होना-

जिस प्रकार एक नक्षत्र विशेष के उदय से या निर्मली (कतक फल) घिसकर डालने से कीचड़ नीचे दब जाता है एवं पानी स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार देव लोग अपनी शक्ति से तीर्थंकर जहाँ जहाँ विहार करते थे वहाँ के जलाशयों को निर्मल जल से परिपूर्ण कर देते थे।

(10) आकाश निर्मल होना-

जिनेन्द्र केवल ज्ञान वैमल्यमनुकुर्वता।
घनावरणमुक्तेन गगनेन विराजितम्।। 26।।
नीरजोभिरहोरात्रं जनताभिरिवेश्वरः।
आशाभिरपि नैर्मल्यं विभ्रतीभिरूपासितः।। 27।।

मेघों के आवरण से रहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह जिनेन्द्र देव के केवलज्ञान की निर्मलता का ही अनुकरण कर रहा हो।

जिस प्रकार रजोधर्म से रहित होने के कारण निर्मलता शुद्धता को धारण करने वाली स्त्रियाँ रात-दिन अपने पति की उपासना करती हैं उसी प्रकार रज अर्थात् धूलि से रहित होने के कारण उज्जवलता को धारण करने वाली दिशाएं भगवान् की उपासना कर रही थी।

जिस प्रकार मेघाछिन्न आकाश तीव्र वायु प्रभाव से मेघ हटने के पश्चात् निर्मल हो जाता है उसी प्रकार देव लोग अपनी विशिष्ट दैविक शक्ति से आकाश स्थित बादल धूली, धुआँ आदि को दूर कर देते हैं। जिससे आकाश अत्यन्त निर्मल हो जाता है।

(11) सम्पूर्ण जीव निरोगी होना-

तीर्थंकर के सातिशय पुण्य प्रभाव से, पुण्य पवित्रमय वातावरण से एवं देवों के विशेष प्रभाव से सम्पूर्ण जीव रोग बाधाओं से रहित हो जाते हैं। पूर्वकृत पुण्य प्रभाव से देवों को विशेष ऋद्धि प्राप्त होती है जिसके माध्यम से वे लोग अनुग्रह निग्रह करने में समर्थ हो जाते हैं। तार्किक चूडामणी अकलंक देव राजवार्तिक में बताते हैं।

शापानुग्रह लक्षणः प्रभावः।।2 ।। शापोऽनिष्टापादनम् अनुग्रह इष्ट प्रतिपादनम् तल्लक्षणः प्रवृध्दोभाव प्रभाव इत्याख्यायेत।

शाप और अनुग्रह शक्ति को प्रभाव कहते हैं। अनिष्ट वचनों का उच्चारण शाप है। इष्ट प्रतिपादन को अनुग्रह कहते हैं। शाप या अनुग्रह करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं; जो बढ़ा हुआ भाव हो, उसका नाम प्रभाव है। आयुर्वेद में वर्णन है कि कुछ रोग देव प्रकोप से होता है, एवं देव प्रसन्न से अर्थात् उनके सूक्ष्म दैविक उपचार से अनेक रोग भी दूर हो जाते हैं। यह वर्णन कल्याणकारक में जैनाचार्य उग्रदित्य, बौद्ध आचार्य वाग्भट अष्टांग-हृदय में तथा हिन्दू आचार्य चरक, सुश्रुत अपने अपने ग्रंथ में किये हैं इसका वर्णन हमने भी संक्षिप्त से वर्णन चिकित्सा विज्ञान में किया है वहाँ से देखने का कष्ट करें।

(12) धर्म चक-

सहस्रं हसद्दीत्या सहस्रकिरणद्युति।
धर्म चक्रं जितस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात्।। 29।।

विहार करते हों, चाहे खड़े हों प्रत्येक दशा में श्री जिनेन्द्र के आगे, सूर्य के समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्ति से हजारआरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उड़ाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था।

जक्खिंदमत्थएसुं किरणुज्जलदिव्वधम्मचक्काणि।
दट्ठूणं संठियाइं चत्तरि जणस्स अण्छरिया।। तिलोय पण्णत्ति।

यक्षेद्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों के उज्वल ऐसी चार दिव्य धर्म चक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है।

सहस्रस्फुरद्धर्म चक्र रत्नपुरःसरः।।256।। आदि पुराण

तीर्थंकर के आगे हजारआरे वाले दैदीप्यमान धर्मचक्र चलता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न के माध्यम से षड्खण्ड को विजय करता है उसी प्रकार धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् अन्तरंग सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्मचक्र (धर्म समूह) के माध्यम से अंतरंग सम्पूर्ण शत्रुओं को पराजय करके पहले स्वयं के ऊपर विजयी बने। जो आत्मा विजयी होता है, वह विश्व विजयी होता है। इस न्याय के अनुसार तीर्थंकर भगवान् आत्म विजयी होने के कारण विश्व विजयी होते हैं। उस धर्म विजय के बहिरंग चिन्ह स्वरूप एक हजार (1000) आरा वाले प्रकाशमान् धर्मचक्र तीर्थंकर के आगे-आगे अव्याबाध रीति से चलता है।

चक्र अनेक प्रकार के होते हैं। प्राचीन साहित्य में एक अस्त्र विशेष को भी चक्र कहते थे जिनके माध्यम से चक्रवर्ती दिग्विजय करता है। युद्ध के समय में एक प्रकार की व्यूह रचना होती थी जिनका नाम चक्रव्यूह था। धर्म समूह को धर्म-चक्र कहते हैं धर्म चक्र के माध्यम से जब तीर्थंकर अंतरंग समस्त शत्रुओं को परास्त करके आत्म विजयी होते हैं धर्मचक्र तीर्थंकर के सम्मुख चलता है। महान् तार्किक आचार्य कवि समंतभद्रस्वामी स्वयंभूस्त्रोत में विभिन्न चक्रों का अलंकार पूर्ण चमत्कार वर्णन अग्र प्रकार किये हैं।

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण
जित्वा नृपःसर्वनरेन्द्र चक्रम्।

समाधि चक्रेण पुनर्जिगाय,
महोदयो दुर्जय मोह चक्रम् ।। 77 स्वयंभूस्त्रोत

शान्तिनाथ तीर्थंकर गृहस्थावस्था में भयंकर सुदर्शन चक्ररत्न के माध्यम से सम्पूर्ण नरेन्द्र चक्र (राज समूह) को जीतकर चक्रवर्ती पदवी को प्राप्त किये थे। सम्पूर्ण राजवैभव त्याग करके जब निर्ग्रन्थ मुनि बने तब समाधि चक्र (धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान समूह) से दुर्जय महाप्रभावशाली मोहचक्र(मोहनीय कर्म समूह) को जीतकर तीन लोक के अधीश्वर धर्मचक्री तीर्थंकर बने।

यस्मिन्नभूद्राजनि राज चक्रं,
मुनौ दयादीधिति धर्म चक्रम्।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं,
ध्यानोन्मुखे ध्वंसिकृतान्तचक्रम्।।79 ।।

जिस समय शान्तिनाथ तीर्थंकर गृहस्थ अवस्था में एकाधिपति सम्राट (चक्रवर्ती) थे, उस समय राजचक्र (राजा समूह) हाथ जोड़कर नम्र भाव से उनकी अधीनता स्वीकार किये थे। सर्वस्व त्याग करके जब वे मुनि अवस्था को धारण किये तब वे दयारूपी दैदीप्यमान, प्रकाश के धारण करने वाले धर्मचक्र (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य,शौच,संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य, ब्रह्मचर्य, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, ध्यान आदि) को स्वयं के अधीन कर लिए अर्थात् से सम्पूर्ण धर्म को सम्यक् रूप से पालन किये। धर्मचक्र के माध्यम से कृतांतचक्र को ज्ञानावरण आदि कर्म को नष्ट करके सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाला ज्ञानचक्र (ज्ञान समूह, अर्थात् अखण्ड केवलज्ञान) को प्राप्त किये, उस समय 1000 आरे वाले प्रकाशमान धर्मचक्र तीर्थंकर के अधीन हो गया। समवसरण में विराजमान होकर जब धर्मोपदेश देने लगे तब देवचक्र (देव समूह) बद्धांजलि होकर भगवान् की भक्ति करने लगे। अंतिम योग-निरोध समय में ध्यानरूपी चक्र से कृतांतचक्र (चक्रसमूह) को विध्वंस ? करके अध्यात्म गुण धर्मचक्र(आध्यात्मिक गुण समूह) को प्राप्त हुए।

बौद्ध धर्म में भी वर्णन है कि गौतम बुद्ध जब बोधि प्राप्त किये तब से वे धर्मचक्र का प्रवर्तन किये। उसे धर्मचक्र के स्मरण स्वरूप अशोक ने अशोक स्तम्भ के ऊपर (सारनाथ के अशोक स्तम्भ) है। इस अशोक स्तम्भ में 24 आरे वाले

चक्र के ऊपर चतुर्मुखी सिंह बैठा हुआ है। नीचे एक तरफ बैल है एक तरफ घोड़ा है। सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने में इसमें जैनों के बहुत कुछ संकेत रूप से इतिहास सिद्धान्त की गरिमा गाथा निहित है। 24 आरे जैनों के सुप्रसिद्ध 24 तीर्थंकर के सूचना स्वरूप हैं। बैल जैनधर्म के वर्तमानकालीन आदि धर्म प्रवर्त्तक वृषभदेव (आदिनाथ) का लक्षण है। वृषभ का अर्थ धर्म और श्रेष्ठ होता है। बैल (वृषभ) बलभद्रता का प्रतीक है। वृषभ (साँड) स्वातन्त्रय प्रेमी का भी प्रतीक है क्योंकि साँड किसी के अधीन नहीं रहता। बैल शुभ का भी प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मिक सुख-शान्ति को योग कहते हैं। जैसे अरहन्त या सिद्ध के अनन्त सुख क्षायिक भोग पाया जाता है।

जैनों के वर्तमानकालीन तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ भगवान् हैं। उनका लांछन घोड़ा है। घोड़ा तीव्र गमन का प्रतीक है। गमन अर्थात् आगे बढ़ना, उन्नति करना, उत्थान करना, उत्क्रान्ति करना आदि है।

जैनों के अन्तिम तीर्थंकर ऐतिहासिक प्रसिद्ध बुद्ध के समकालीन महावीर भगवान् है उनके चिंह सिंह शौर्य, वीर्य, साहस, धर्म पराक्रम का प्रतीक है। सम्पूर्ण तीर्थंकर समवसरण में जिस आसन पर बैठते है उस आसन को चार सिंह की मूर्ति धारण करती हैं। सम्पूर्ण तीर्थंकर के सिंहासन का प्रतीक ऊपर के चार सिंह हैं।

जब तक धर्म चक्र (धर्मसमूह) चलता रहता है तब तक जन-गण-मन में देश-देश में, समाज राष्ट्र में व्यवस्था ठीक रूप से बनी रहती है तथा सुख शान्ति रहती है धर्म के साथ-साथ साहस, निष्ठा, धैर्य, पराक्रम से जब आगे बढ़ते हैं तब अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

(13) चरण के नीचे कमलों का रचनादि होना-

जब तीर्थंकर भगवान् जन-जन को पवित्र करने के लिए विश्व को सत्य अहिंसा प्रेम, मैत्री, समता का दिव्य अमर संदेश देने के लिए मंगल विहार करते हैं तब भक्ति- वशतः देवलोग भगवान् के पावन चरण कमल के नीचे स्वर्ण कमल की रचना करते हैं।

उन्निद्रहेमतवपंकज पुञ्जकांति
पर्युल्ल सन्नखमयूख शिखाभिरामौ

पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।। 36।। भक्तामरस्त्रोत

हे, जगदोद्धारक विश्व बन्धु तीर्थंकर भगवान्। धर्मोपदेश देने के लिए जब आप मंगल विहार करते हैं तब आपके मंगलमय चरणकमल के नीचे देवगण विकसित, नवीन, प्रकाशमय, सुन्दर, मनोहरी सुवर्ण कमलों की रचना करते हैं।

मकरन्दरजोवर्षि प्रत्यग्रोदभिन्न केसरम्
विचित्र रत्न निर्माण कर्णिकं विसलद्दलम्।। 272 ।। आ.पु.
भगवच्चरणन्यास प्रदेशेऽधिनभः स्थलम्।
मृदुस्पर्शमुदारश्रि पपंजं हैममुद्बभौ।। 273।।

जो मकरन्द और पराग की वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केसर उत्पन्न हुई है, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकार के रत्नों से बनी हुई है, जिससे दल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभा से रहित है ऐसा स्वर्णमय कमलों का समूह आकाश तल में भगवान् के चरण रखने की जगह में सुशोभित हो रहा था।

पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्मा-सप्त विकासिनः।
प्रादुर्वभूवुरूद्गन्धिसान्द्र किञ्जल्करेणवः।।274।।

जिनकी केसर के रेणु उत्कृष्ट सुगन्धि से सान्द्र हैं ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान् के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे।

तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यन्तेषु रेजिरे।
लक्ष्म्यावसथ सौधानि संचारीणीव खांगणे।। 275।।

इसी प्रकार और कमल भी उन कमलों के समीप में सुशोभित हो रहे थे, और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाश में चलते हुए लक्ष्मी के रहने के भवन ही हों।

हेमाम्भोजमयां श्रेणीमलिश्रेणिभिरन्विताम्।
सुरा व्यरचयन्नेनां सुरराज निदेशतः।। 276।।

भ्रमरों की पंक्तियों से सहित इन सुवर्णमय कमलों की पंक्ति को देवलोग इन्द्र की आज्ञा से बना रहे थे।

स्व में रमण रूपी संयम-ध्यान से सर्वज्ञ बनूँ

(आत्मानुशासन से आत्मा में मग्न होना ही परम संयम से ध्यान)

(चाल: मन रे! तू काहे....सायोनारा....) -आचार्य कनकनन्दी

आत्मन्/(कनक) तू संयमी बनोऽऽऽ
स्वयं में ही स्वयं मग्न रहो...बाह्य प्रपंच त्यागोऽऽऽ(ध्रुव)
तू तो अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य हो...अनन्त हैं तेरे गुणगणऽऽऽ
अनन्त आयाममय तेरा स्वरूप...तू तो केवल ज्ञानगम्यऽऽऽ
स्व-अनन्त वैभव में तू रमऽऽऽ(1)
इस हेतु ही तू करो स्व में निवास...इन्द्रिय मन को करो संयमऽऽऽ
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध त्यागो...ईर्ष्या-घृणा-तृष्णादि विभावऽऽऽ
त्याग करो सर्व संकल्प-विकल्पऽऽऽ (2)
एकान्त-मौन में स्व-स्मरण करो...बनकर निस्पृह-निर्द्वन्द्व-शान्तऽऽऽ
स्व-अध्ययन रूपी स्वाध्याय करो...मनन-चिंतन व लेखनऽऽऽ
शोध-बोध अध्यापनऽऽऽ(3)
आत्मानुशासन से बनो स्वावलम्बी...स्व का ही बनो कर्त्ता-भोक्ताऽऽऽ
आत्मानुभव से आत्मविकास करो...त्यागो अन्धानुकरण-प्रतिस्पर्द्धाऽऽऽ
स्वतंत्र व मौलिक बनोऽऽऽ(4)
गुण-गुणी व दोष-दोषी से सीखो...किन्तु न हो पर द्वारा संचालितऽऽऽ
रिमोट कंट्रोल तू स्वयं ही बनो...अन्य से न हो प्रभावितऽऽऽ
स्व-विभाव या पर विभाव सेऽऽऽ(5)
दोषी से भी न करो द्वेष...भक्त-शिष्यों से भी न हो मोहितऽऽऽ
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि से न राग...इससे विपरीत से भी न उद्वेगऽऽऽ
मोह-क्षोभ रहित हो साम्यभावऽऽऽ(6)
निष्काम-निर्मल-निच्छल-निश्चल...निर्भय.निर्मद-निराडम्बर पूर्णऽऽऽ
धन-जन-मान-सम्मान-सत्कार...पुरस्कार-तिरस्कार से रहो साम्यऽऽऽ
ये ही यथार्थ से परम संयमऽऽऽ(7)
बगुला-घडियाल-अजगर सम...शिकार हेतु न करो ढोंग-संयम/(ध्यान)ऽऽऽ

आत्मदर्शन हेतु संयम पालो...प्रदर्शन-भीड़ (धन) हेतु न हो संयमऽऽऽ
ये तो नट-नटी के सम कामऽऽऽ(8)
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ पालो...आहार-विहार-वचन में संयमऽऽऽ
समय-शक्ति-उपकरण में संयम...व्यवहार से ले लेखन प्रवचनऽऽऽ
'कनक' संयम/(ध्यान) से बनो सर्वज्ञऽऽऽ(9)

नन्दौड़ 24.11.2018 रात्रि 08:59

आत्मध्यान की विधि

सन्दर्भ-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं।। (22)। इष्टो.

Controlling his senses, with concenrated mind the knower! of the self should contemplete the self seated in his self. through the self!

''स्वपरज्ञप्ति रूपत्वात् न तस्य कारणान्तरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य, स्वसंवित्यैव वेद्यताम्।।
''गहियं तं सुअणाणा, पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो ण हु सुयमवलंबइ, सो मुज्झइ अप्पसब्भावो।। '' तथा च
''प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपनोऽस्मि परमानन्द निर्वृत्तम्''।।

पुनः शिष्य प्रश्न करता है कि गुरुदवे! यद्यपि आत्मा का अस्तित्व है तथापि उसकी उपासना किस प्रकार की जावे ? इस प्रश्न का आचार्य जी उत्तर देते हैं- इन्द्रिय एवं मन को निरोध करके पूर्वोक्त प्रकार आत्मा का आत्मा के द्वारा स्वसंवेदन रूप से आत्मा तत्त्व ज्ञान के द्वारा उपासना करनी चाहिए, ध्यान करना चाहिये। आत्मा का ज्ञान-ध्यान स्वसंवेदन के द्वारा ही होता है अन्य किसी कारण इन्द्रियाँ, यन्त्रादि से नहीं होता है। कहा भी है- आत्मा स्व पर ज्ञाप्ति (ज्ञान जानने वाला) रूप होने से उसको जानने के लिए अन्य इन्द्रिय आदि की आवश्यकता होती है। इसलिए अन्यान्य चिन्ताओं को त्यागकर के स्वसंवेदन के माध्मम से ही

स्वयं को जानना चाहिये। इन्द्रियों की रूपादि स्व-स्व विषय से निवृत्त करा के एकाग्र रूप से स्थिर चित्त से एक ही विवक्षित आत्मा के द्रव्य एवं पर्याय में से कोई एक में चित्त को स्थिर करना चाहिए। श्रुत ज्ञान के आलम्बन से मन एवं इन्द्रियों का निरोध करके समस्त चिंता को त्याग करके स्व आत्मा की ही भावना भानी चाहिए तथा स्व-आत्मा को ही स्व संवेदन के माध्यम से ही अनुभव करना चाहिए। आत्मा में स्थिर होने पर समस्त वस्तु का परिज्ञान हो जाता है क्योंकि समस्त वस्तु के परिज्ञान का आधार आत्मा ही है। कहा भी है-पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानकर पश्चात् स्व. संवेदन प्रत्यक्ष से उसका अनुभव करना चाहिए। जो श्रुतज्ञान की आवलम्बन नहीं लेता है वह आत्म स्वभाव में मोहित हो जाता है तथा मैं विषयों से निर्वत्त होकर मेरे द्वारा ही मेरे में स्थित होता हूँ। इसे मैं बोधात्मक परमानन्द स्वरूप मेरे स्व स्वरूप को प्राप्त करता हूँ।

समीक्षा :- इस श्लोक में आचार्य श्री ने आत्म ध्यान/आत्म ज्ञान/आत्मानुभूति। आत्म उपलब्धि के उपाय को संक्षिप्त तथा सारगर्भित पद्धति से वर्णन किया है। जब तक इन्द्रियों की प्रवृत्ति रहेगी तब तक मन स्थिर नहीं हो सकता है और जब तक मन स्थिर नहीं होगा, तब तक आत्मध्यान नहीं होता है। इस प्रकार जब तक राग, द्वेष, मोह को प्रवृत्ति चंचल वृत्ति होगी तब तक भी ध्यान नहीं हो सकता है। आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह में कहा भी है-

मा मज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।। 48।।

हे भव्यजनों! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्टरूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमें राग द्वेष और मोह ही मत करो।

आचार्य श्री ने इस गाथा में ध्याता का स्वरूप तथा प्रकारान्तर से ध्यान के कारणों का आध्यात्मिक, रहस्यपूर्ण, संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित वर्णन प्रस्तुत किया है। ध्यान के मुख्य अंग है,1. ध्यान 2. ध्याता 3. ध्यान के कारण 4. ध्येय 5. ध्यान के फल।

(1) ध्यान- उपयोग, चिन्ता,ज्ञान की स्थिरता ध्यान है।

(2) ध्याता- रत्नत्रय से युक्त साम्यावस्था को धारण करके ध्यान करने वाला ध्याता है।

(3) ध्यान के कारण- रत्नत्रय, वैराग्य, परिग्रह से शून्यता, मनेन्द्रिय के ऊपर विजय, समतादि ध्यान के कारण हैं।

(4) ध्येय- विश्व के प्रत्येक जड़-चेतनात्मक, शुद्धाशुद्ध द्रव्य ध्येय होते हुए भी स्वनिर्मल परमात्मा ही अंतिम उत्कृष्ट ध्येय है।

(5) ध्यान के फल-संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ध्यान के फल हैं।

'' मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह'' समस्त मोह, राग-द्वेष से उत्पन्न हुए विकल्पों समूहों से रहित जो निज परमात्मा स्वरूप की भावना से उत्पन्न हुआ एक परमानन्द रूप सुखामृतरस से उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद में तत्पर अर्थात् मग्न हुई जो परम कला अर्थात् परमसंवित्ति(आत्मस्वरूप का अनुभव) है, उसमें स्थिर होकर हे भव्य जीवों! चित्त में मोह, राग, द्वेष मत करो ? ''इट्ठणिट्ठअट्ठेसु'' माला, स्त्री, चंदन, ताम्बूल आदि रूप इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में राग व सर्प विष, कांटा, शत्रु तथा रोग आदि इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में द्वेष मत कर, थिर मिच्छइ जइ चित्तं यदि उसे परमात्मा के अनुभव में तुम निश्चल चित्त को चाहते हो। किस लिये स्थिर को चाहते हो! ''वि चित्तझाणप्पासिद्धिए'' विचित्र अर्थात् नाना प्रकार का जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिए अथवा दूर हो गया है चित्त अर्थात् चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभ-अशुभ विकल्पों का समूह दूर हो गया है, सो विचित्र ध्यान है, उस विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए।

अकुंर उत्पत्ति के लिए योग्य जल, वायु, पृथ्वी एवं सूर्य आदि की आवश्यकता पड़ती है परन्तु योग्य बीज के अभाव से बाह्य जल, वायु आदि के संयोग से भी अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। उसी प्रकार ध्यान के लिए योग्य बाह्य देशादि की आवश्यकता है तो भी ध्यान के अन्तरंग एवं मुख्य कारण मन की एकाग्रता नहीं है तो ध्यान रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः ध्यान की महत्वपूर्ण प्रधान एवम् प्रथम साधन मन की साम्य-अवस्था है। मन की साम्य अवस्था के लिए राग-द्वेषात्मक भावात्मक तरंग का उपशम अति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दी ने समाधि शतक से साम्यावस्था एवं आत्मदर्शन के लिए रागद्वेषात्मक कल्लोल का अभाव होना मुख्य कारण कहा है।

रागद्वेषादिकलोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्वंस तत्त्वं नेतरो जन।35। पृ. 45

जिस पुरुष का मनरूपी, जल, राग,द्वेष, मोह,क्रोध, मद, लोभ, माया आदि की लहरों से चंचल नहीं है, वह मनुष्य अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में देख लेता है। अन्य पुरुष उस आत्मा के स्वरूप को नहीं देख पाता।

स्वच्छ स्थिर जल में देखने वाले का मुख दर्पण के सदृश्य प्रतिबिम्बित हो जाता है। परन्तु वायु के बहने से या कोई घन वस्तु उस जलाशय में निक्षेप (डालने) से जल में तरंगे उठती हैं, जिससे जल क्षुभित हो जाता है। क्षुभित जल में मुख स्पष्ट प्रतिबम्बित नहीं होता है। यदि प्रतिबिम्बित भी होगा तो प्रतिबिम्ब मुख के अनुरूप न होकर वक्र रूप अतदाकार अस्पष्ट दिखाई देगा। उसी प्रकार का मनरूपी जल जब साम्यावस्था को प्राप्ति करके स्थिर रहता है तब ध्यान साधना, आत्मदर्शन होता है परन्तु जब राग द्वेषात्मक प्रचण्ड वायुवेग से मन रूपी जल में संकल्प विकल्पात्मक आकर्षण-विकर्षणात्मक कल्लोलें कल्लोलित होती हैं, उस समय मन रूपी जल क्षुभित हो जाता है। उस समय मन में एकाग्रता के अभाव से ध्यान, साधन, आत्मदर्शन नहीं हो सकता है। इसलिये मन को स्थिरता के लिए रागद्वेषात्मक, आकर्षण-विकर्षणात्मक भावों का त्याग करना परम् आवश्यक है।

उत्साहन्निश्चयाद्धौर्यात्सन्तोष निश्चयात्।
मुनेर्जपद त्यागात् षडिभिर्योग प्रसिध्यति।। (ज्ञाना)

उत्साह से, निश्चय से, धैर्य से, संतोष से, तत्त्व दर्शन से, देश त्याग से योग की सिद्धी होती है।

कोई इसी प्रकार कहता है-

एतान्येवाहुः केचिच्चमनः स्थैयार्य शुद्धये।
तस्मिन्स्थिरी कृते साक्षात्स्वार्थ सिद्धि ध्रुवं भवेत्।। 2।।

कोई ऐसा कहता है कि ये यमादिक कहे हैं सो मन को स्थिर करने के लिए तथा मन की शुद्धता के लिए कहे हैं क्योंकि मन के स्थिर होने से साक्षात् प्रसिद्धि होती है।

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः।
रागादि क्लेश निर्मुक्तं करोति स्ववश मनः।।3।।

जिसने यमादिक के अभ्यास किया है, परिग्रह और ममता से रहित है ऐसा मुनि ही अपने मन को रागादिक से निर्मुक्त तथा अपने वश में करता है।

अष्टांगानि योगस्य यान्युक्तान्यार्य सूरिभिः।
चित्त प्रसति मार्जेण बीजं स्युस्ताति उदतये।। (4) ।

योग के 8 अंग पूर्वाचार्यों ने कहे हैं। वे चित्त की प्रसन्नता के मार्ग से मुक्ति के लिए बीजभूत (कारण) होते हैं, अन्य प्रकार से नहीं होते। इस प्रकार पूर्वोचार्यों ने कहा है-हिंसादि पंच महापाप सेवन से, पंचेन्द्रियजनित विषय आसक्ति, भोग अनुभव से असत् अनैतिक आचार-विचार से, संसार-शरीर-भोगासक्ति से, अविद्या, अज्ञान से मन क्षुभित होकर, मलिन होकर ध्यान साधन नहीं हो सकता है। इसलिए ध्यान विशेषज्ञ आचार्य ध्यान साधन के कारण बताते हुए कहते हैं कि-

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रंथं यशचित्तता।
परिषह जयश्चेति पंचैते ध्यान हेतवः।।

1. वैराग्य 2. तत्त्व का परिज्ञान 3. अन्तरंग बहिरंग ग्रंथि शून्यता 4. मन के ऊपर विजय 5. परिषह उपसर्ग कष्टादि को समता रूप में सहन करना वे पांच ध्यान के लिए कारण हैं।

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धुणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं।। 55।।

ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ को ध्याता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होता है उस समय उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

'तदा' उस काल में। आहु कहते हैं। तं तस्स णिच्छयं झाणं उसको, निश्चय ध्यान कहते हैं जब क्या होता है ? णिरीहवित्ती हवे जदा साहु'' जब निस्पृह वृत्तिवाला साधु ध्याता होता है। क्या करता है ? जं किंचिवि चिंततो जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरूप का विशेष चिन्तन करता है। पहले क्या करके ? लध्दूण य एयत्तं उस ध्येय में प्राप्त होकर। क्या प्राप्त होकर ? एकपने को अर्थात् एकाग्रचिन्ता

निरोध को प्राप्त होकर (ध्येय पदार्थ में एकाग्रचिन्ता का निरोध करके यानि एकचित्त होकर जिस किसी ध्येय वस्तु का चिन्तन करता हुआ साधु जब निस्पृहवृत्ति वाला होता है। उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चय ध्यान कहते हैं। विस्तार वे वर्णन, गाथा में यत् किंचित ध्येयम् (जिस किसी भी ध्यये पदार्थ को) इस पद से क्या कहा है ? प्रारंभिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पंच परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्येय है। निस्पृह शब्द से मिथ्यात्व, तीनों-वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरंग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दश बहिरंग परिग्रहों से रहित, ध्यान करने योग्य पदार्थों में स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। निश्चय शब्द से प्रारंभ करने वाले की अपेक्षा व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए और ध्यान में निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिए। विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है।

मा चिट्ठहं मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।। (56)

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तमय किमपि येन भवति स्थिरः।
आत्मा आत्मनि रतः इदं पर भवति ध्यानं।।

हे ज्ञानीजनों! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के व्यापार को मत करो कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारों जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपनी आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होता है वही परम ध्यान है।

जिस प्रकार स्थिर जल में बड़ा पत्थर डालने पर जल अस्थिर होता है और छोटा पत्थर डालने पर भी जल अस्थिर होता है भले अस्थिरता में अन्तर हो। उसी प्रकार किसी भी प्रकार के संकल्पविकल्प, चिन्तन, कथन, क्रियादि से आत्मा में अस्थिरता/कम्पन/चंचलता/क्षोभ हो जाता है इसलिए श्रेष्ठ ध्यान के लिए समस्त

संकल्पादि को त्याग करके आत्मा में ही पूर्ण निश्चल रूप में स्थिर होना चाहिए।

अतः आचार्य श्री ने कहा है कि-

'मा चिट्ठ मा जंपह मा चिंतह किं वि'।

हे विवेकी पुरुषों! नित्य निरंजन और क्रिया रहित निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकने वाला शुभ-अशुभ चेष्टा रूप काय की क्रिया को तथा शुभ-अशुभ-अंतरंग-बहिरंग रूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो।

'जेण होइ थिरो' जिन तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है। वह कौन ? '' अप्पा'' आत्मा। कैसा होकर स्थिर होता है ? अप्पम्मि रओ स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप भेद रत्नत्रयात्मक परम ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों को आनंदायक ऐसे सुख के अनुभव रूप परिणति सहित स्व-आत्मा में रत, तल्लीन व तच्चित्त तथा तन्मय होकर स्थिर होता है। इणमेव परं हे ज्झाणं यही तो आत्म के सुख स्वरूप में तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है।

उस परमध्यान में स्थित जीवों को जो वीतराग परमानन्द सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। वह अन्य पर्यायवाची नामों से क्या-क्या कहा जाता है, सो कहते हैं। वही शुद्ध आत्मस्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश में प्रकटता रूप विवक्षित एक शुद्ध-निश्चयनय से निज शुद्ध आत्मानुभव से उत्पन्न सुख रूपीअमृत जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस स्वरूप है परमात्मा ध्यान के भावना की नाममाला में इस एक देश व्यक्ति रूप नय के व्याख्यान को यथा संभव सब जगह लगा लेना चाहिए। लाभ एकदेश शुद्ध निश्चय नय से अपेक्षित है।

वही परब्रह्म स्वरूप है, वही परम विष्णुरूप है, वही परम शिवरूप हैं, वही परम बुद्धस्वरूप हैं, वही परम जिनस्वरूप है, वही परम निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही शुद्धात्मदर्शन है वही परम अवस्था स्वरूप है, वही परमात्म दर्शन है, वहीं ध्यान करने योग्य शुभ पारिणामिक भावरूप है, वही ध्यान भावनारूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वह ही परम पवित्र है, वही परम

ज्योति है, वही शुद्ध वहि निर्मल स्वरूप है, वही स्वसंवेदन ज्ञान है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही आत्मानुभृति है, वहीं आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म संवित्ति, आत्म-संवेदन है, वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम समाधि है, वही परम-आनंद है, यही ध्यान करने योग्य शुद्ध पारिणामिक भावरूप है, वही नित्य आनंद है, वही स्वाभाविक आनंद है, वहीं सदानंद है, वही शुद्ध आत्म पदार्थ के अध्ययनरूप है, वहीं परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का मार्ग है। वही एकाग्रचिंता निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध निश्चय ज्ञान- दर्शन-चारित्र-रूप वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वह ही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चय षट्-आवश्यक स्वरूप है, वही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है। वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप आराधना स्वरूप है, वही परमात्मा भावनारूप है, वही परम अद्वैत है, वही अमृतस्वरूपपरमधर्मध्यान है, वही शुक्ल ध्यान है, वही राग आदि विकल्प रहित ध्यान है, वही निष्फल ध्यान है, वही परम स्वाध्याय है, वही वीतरागता है, वही परम समता है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम समरसी भाव है इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि रहित, परम आह्लाद एक-सुख लक्षणमयी ध्यान स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले अन्य बहुत से पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होते हैं।

तवसुदवुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होई।। (57) - द्रव्यसंग्रह

क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वही ध्यान रूप रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है। इस कारण से भव्य जनों! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरंतर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर हो।